कर्म-व्यवस्था

KARMA,

MANUAL IV.

by

MRS. ANNIE BESANT.

Translated in Hindi

by

SURAJ BHAN, B. A.,
(LATE) PRINCIPAL DAYAL SINGH COLLEGE
LAHORE.

द्वितीय बार
१०००

सन् १९३८

मूल्य ॥)

विषय-सूची

कर्म-व्यवस्था

KARMA,

MANUAL IV.

by

MRS. ANNIE BESANT.

Translated in Hindi

by

SURAJ BHAN, B. A.,
(LATE) PRINCIPAL DAYAL SINGH COLLEGE
LAHORE.

मुद्रक—रामकृष्ण दास, बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी प्रेस, बनारस।

द्वितीयवार १००० | सन् १९३८ | मूल्य ॥)

थियोसोफिकल सोसाएटी

इसके उद्देश्य यह हैं:—

(१) वंश, वर्ण, जाति, मत, स्त्री वा पुरुष के भेद भावों को छोड़कर सार्वभौमिक भ्रातृभाव का एक केंद्र स्थापन करना।

(२) धर्म्म सम्बन्धी शास्त्रों, दर्शनों और विद्याओं के साम्प्रत्यध्ययन (comparative study) में लोगों की रुचि बढ़ाना।

सृष्टिक्रम के अस्पष्ट नियमों और मनुष्य की गुप्त शक्तियों को अन्वेषण करना।

नोट—यह सभा किसी मज़हब वा जाति से कुछ योजन नही रखती, सत्य को निर्णय करना इसका मुख्य उद्देश्य है, इसके सभासदों को अपनी सम्मति में पूर्ण स्वतन्त्रता है।

अनुवादक का उपोद्घात

यह पुस्तक श्रीमती ऐनी वेसेण्ट कृत Karma Manual अर्थात् कर्म-व्यवस्था नामक अनुवाद है—पहली बार यह लाला सूर्य्यभानु बी० ए०, प्रिंसिपल दयालसिंह कालिज लाहौर द्वारा छपा था—अब द्वितीय बार यह मिस्टर गणपतराय साहिब सकसेना, प्रोफेसर कानपुर कालिज से संशोधित कराकर उनके ज्येष्ठ पुत्र शामलाल द्वारा प्रकाशित हुआ है। आशा है हिन्दी ज्ञाता इससे यथेष्ट लाभ उठावेंगे।

|| ॐ ब्रह्मणे नमः ||

कर्म

मनुष्य का प्रत्येक संकल्प उदय होने पर अभ्यान्तरिक लोक में चला जाता है और अपने भावानुसार रूप-देवता (Elementals) यक्ष नामक विश्व की मन्दमति शक्तियों में से किसी एक के साथ सम्बद्ध अथवा तन्मय होकर, उत्साही प्राणी के समान कार्य्य करने लगता है। यह संकल्प मन से उत्पन्न होने के अनन्तर एक उद्योगी चैतन्य भूत के सदृश रहता है। इसकी न्यूनाधिक आयु उस मस्तिष्क क्रिया के वेगानुसार होती है जिससे यह उत्पन्न होता है। इस प्रकार शुद्ध संकल्प तो प्राणी उद्योगी और उपकारी बन जाते हैं, और अशुद्ध संकल्प ठीक इससे विपरीत अपकारी दुष्ट जीव बन जाते हैं। इस प्रकार मनुष्य अपने आकाशिक तेज के प्रभाव में निरन्तर अपनी एक सृष्टि रचता है। यह सृष्टि उसके विकल्प, वासना, तृष्णा और काम की तरङ्गों से उत्पन्न हुए प्राणियों से परिपूरित रहती है। इस सृष्टि का प्रवाह जिस कंपशील अथवा मृदु प्रवृत्ति (nervous and sensitive) वाले देहधारी को स्पर्श करता है, उसी पर अपने वेग की तीव्रता के अनुसार भाव डालता है। बौद्ध शास्त्रों में इस प्रवाह को स्कन्ध कहते हैं और आर्ष ग्रन्थों में कर्म्म नाम से पुकारते हैं,

योगीजन इस मानसिक सृष्टि के रूपों को ज्ञानशक्ति द्वारा अपने इच्छानुसार जिस प्रकार चाहें उत्पन्न करते हैं। परन्तु सर्वसाधारण मनुष्य तो इसे अजानता से उत्पन्न करते रहते हैं। उपरोक्त कथन महात्मा 'क० ह० ऋषि' के एक पत्र में से लिया गया है जो उन्होंने तत्त्वज्ञान सभा (Theosophical Society) के स्थापित होने के कुछ कालान्तर एक शिष्य के पास भेजा था। कर्म्म-व्यवस्था के सार का इससे अधिक स्पष्ट वर्णन और कहीं नहीं मिलता। यदि इस कथन को सर्वसम्बन्ध सहित समझ लिया जावे, तो इस विषय की कठिनता बहुत कुछ निवृत्त हो जावेगी और कर्म्म-व्यवस्था के मुख्य सिद्धांत का गौरव अंत:करण में उतर आवेगा। इसलिये गूढ़ विषय के वर्णन में हम उक्त कथन को आधार बनायेंगे। इस विषय के यथार्थ बोध के लिये, कर्म्मरीति का अपरिवर्त्तन, मनुष्य की क्रिया शक्ति और विश्व के मण्डलों का स्पष्ट ज्ञान होना आवश्यक है। इस वास्ते आरम्भ में इनका वर्णन किया जाता है।

कर्म-व्यवस्था ।

कर्म्म नियम का अपरिवर्त्तन

प्रसिद्ध है कि हम एक ऐसे लोक में निवास करते हैं जहाँ की प्रत्येक कार्रवाई ऐसे ऐसे नियमों के अनुसार होती है जिनका उल्लंघन करना हमारी सामर्थ्य के बाहर है । यदि इस बात का पूर्ण अनुभव हो जावे और इसकी सत्ता मानसिक सृष्टि में वैसे ही प्रत्यक्ष हो जावे जैसे स्थूल सृष्टि में होती है, तो प्रायः एक प्रकार की परतन्त्रता हमारे ऊपर छा जाती है और ऐसा प्रतीत होने लगता है कि हम किसी ऐसी प्रबल शक्ति के अधीन हैं, जो हमें अपने इच्छानुसार जिधर चाहे कठपुतली के समान नचा रही है । परन्तु वास्तव में यह बात इससे उलटी है । क्योंकि जब इस प्रबल शक्ति का यथार्थ ज्ञान हो जावे तो यही शक्ति हमारे आज्ञाकारी सेवक के समान होकर जिस ओर हम चाहें हमें ले जाती है । विश्व की समस्त शक्तियों का जितना अधिक बोध हमें हो, उतना ही हम उनसे अपने इच्छानुसार काम ले सकते हैं । प्रकृति के नियमों का पालन करने से ही हम प्रकृति को जीत सकते हैं ।

ज्ञान प्राप्ति से प्रकृति का दुर्निवार प्रवाह हमारे वश में आ जाता है, (जैसा कि पातञ्जलि मुनि भी योग सूत्र के १ म, अध्याय में लिखते हैं) ।

"परमाणु परम महत्वान्तोऽस्य वशीकारः" ॥ ३६ ॥

परमाणु से लेकर महत् पर्यन्त सब पदार्थ योगी के वश में हो जाते हैं । ज्ञानी जन प्रकृति की शक्तियों के अमित भण्डार में से जिस मात्रा और बल वाली शक्ति की आवश्यकता हो उसको अपने अर्थ के लिये कार्य्य में ला सकते हैं और इन शक्तियों के प्रयोग से अर्थ-सिद्धि भी अवश्य होती है, क्योंकि प्रकृति के नियम नित्य सम रहते हैं ।

सायंस के प्रयोगों (Experiments) की सत्ता, फल प्राप्ति के निमित्त यत्नों का प्रबंध करना, और भविष्य के वृतान्त को पहले ही से कथन कर देना, नियमों की नित्यता पर ही निर्भर है । इसी के आश्रय रसायनिकों (Chemists) को निश्चय होता है कि एक प्रकार की सामग्री के साथ एक ही प्रकार का अनुष्ठान करने से सदैव समान फल होता है । यदि कभी फल विपरीत भी हो जावे तो समझा जाता है कि अनुष्ठान में कहीं कुछ न्यूनता हो गई होगी, यह कभी अनुमान नहीं किया जाता कि प्रकृति के नियमों का परिवर्त्तन हो गया है । मनुष्यों के कर्मों के नियमों की भी ऐसी ही रीति बर्त्तती है । जितने ज्ञान के साथ कोई कर्म्म हम करते हैं, उतना ही ठीक

ठीक उसके भविष्य में होने वाले फल को बतला सकते हैं। प्राय: हम अपनी अज्ञानता से कह दिया करते हैं कि अमुक कार्य्य तो दैवयोग से हो गया है, वास्तव में ऐसा नहीं होता। प्रत्येक कार्य्य नियमानुसार होता है। इन नियमों से अनभिज्ञ रहना अथवा उन पर ध्यान न देने के कारण ही हमारे मुख से दैवयोग, अकस्मात् आदि शब्द निकला करते हैं। जैसा कि स्थूल लोक में होता है वैसा ही मानसिक लोक में भी किसी क्रिया के फल को पहले से जान सकते हैं। उसकी प्राप्ति का यत्न करके उसकी सिद्धि पर निश्चय कर सकते हैं। प्रकृति अपनी (नियम) रीति में हमें कभी धोखा नहीं देती किन्तु अपनी अज्ञानता के कारण हम आप ही धोखे में पड़ जाते हैं। प्रत्येक लोक में ज्ञान-वृद्धि के साथ ही बल-वृद्धि भी होती है, मानो सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमानता एक ही अर्थ के बोधक होते हैं।

प्रकृति के नियमों की क्रिया मानसिक सृष्टि में स्थूल सृष्टि के समान नित्य एक सी क्यों न रहे, क्योंकि सर्व विश्व की उत्पत्ति एक तत्त्व से हुई है जिसको हम नियम कहते हैं, वह केवल उसी तत्त्व के स्वभाव का सूचक है। जिस प्रकार सर्व विश्व की उपत्ति एक तत्त्व से हुई है, उसी प्रकार उसकी स्थिति भी एक नियम के आश्रय से होती है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का आधार केवल नियमों के नित्य स्वभाव पर ही निर्भर है।

विश्व के मण्डल (लोक)

कर्म की अवस्था समझने के लिये, विश्व के नीचे लिखे हुए ३ मण्डलों और उनके सम्बन्धी मनुष्य के तत्त्वों का स्पष्ट ज्ञान होना आवश्यक है। निम्नलिखित चित्र में विश्व के मण्डलों, उनके सम्बन्धी तत्त्वों और उन उपाधियों के नाम लिखे गये हैं जिनके द्वारा जीव उन मण्डलों में भ्रमण कर सकता है। तत्त्वों के नामों से उनमें वर्त्तमान चेतना की अवस्था प्रतीत होती है।

आत्मा

सुषुप्ति मण्डल (लोक)	बुद्धि	महा कारण देह (Spiritual body)
स्वर्ग मण्डल Devachanic	मनस्	१ कारण देह (Causal body) २ मानसिक देह वा मायावी रूप (Mind body)
गगन-मण्डल Psychic or astral	१ काममनस् २ काम	सूक्ष्म देह (Subtle body)
स्थूल मण्डल	१ लिङ्ग शरीर २ स्थूल शरीर	स्थूल देह (Physical body)

जब योग के साधनों से जिज्ञासु इन मण्डलों में भ्रमण

करना सीखता है, तब शब्द-ज्ञान का निर्णय करके अपने तज्र-रबों द्वारा अनुभव-ज्ञान अर्थात् विज्ञान को प्राप्त कर लेता है। विश्व के स्थूल मण्डल अर्थात् इस जगत में कार्य्य करने के लिये जीवन को स्थूल देह की सहायता लेनी पड़ती है, इसी लिये जीव की चेतना का प्रकाश मस्तिष्क की शक्तियों से सीमाबद्ध (Limited) है।

गगन-मण्डल की प्रकृति कई दरजे की सूक्ष्मतावाली होती हैं, इसलिये इस मण्डल में कार्य्य करने के वास्ते जीव कई प्रकार की सूक्ष्म उपाधियों से काम लेता है। इन सब उपाधियों को सूक्ष्म शरीर के नाम से पुकारते हैं। स्वर्ग अर्थात् देवचान मण्डल दो भवनों में विभक्त है, जिनमें एक को रूप-भवन और दूसरे को अरूप-भवन कहते हैं। रूप-भवन में जीव मायावी रूप के आश्रय काम करता है, मायावी रूप को मानसिक प्रकृति से बनने के कारण मानसिक देह भी कहा करते हैं। अरूप-भवन में कारण शरीर काम देता है। चतुर्थ मण्डल का अभी समझना अति कठिन है, इसलिये उसका वर्णन करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता।

स्मरण रहे कि इन मण्डलों की प्रकृति एक प्रकार की नहीं होती। प्रत्येक मण्डल की प्रकृति ऊपर के मण्डल की प्रकृति से अति घन और स्थूल होती है। सृष्टि-क्रम में भी इसी प्रकार प्रकृति सूक्ष्म से स्थूल और अघन से घन होती है। इसके अति-

रिक्त इन मण्डलों में देवों (Elementals) के बहुत से गण (Hierarchies) बसते हैं, देवगणों की बहुत सी श्रेणियाँ होती हैं। सबसे उच्च श्रेणी के महामतिवाले देवगण सुषुप्ति मण्डल में रहते हैं, और नीच श्रेणी के मन्दमतिवाले देवगण स्थूल मण्डल में निवास करते हैं। प्रत्येक मण्डल में कोई भी ऐसा अणु नहीं है, जिसमें पुरुष और प्रकृति का संयोग न हो। प्रकृति अणु का शरीर होती है और पुरुष उसका प्राण होता है। कणों (ज़र्रों) के पृथक्-पृथक् संघात (Independent aggregations of particles) अनेक प्रकार के रूप-रूपान्तर और मूर्त्तियों को धारण कर अपनी अपनी जाति के देवगणों से प्रविष्ट वा संयुक्त होते हैं। कोई भी रूप ऐसा नहीं जिसका सम्बन्ध किसी देवता से न हो, यह विदित रहे कि एक प्रकार के रूप से एक ही जाति के देवता सम्बन्धित होते हैं, अन्य जाति के देवता उस एक ही रूप में प्रवृष्टि नहीं हो सकते। जिस जिस दरजे की उन्नतिवाला रूप होता है, उसी उसी दरजे की उन्नतिवाला देवता उसमें प्रवेश करता है।

अब पहले गगन-मण्डल के देवगणों का कुछ वर्णन संक्षेप से किया जाता है, क्योंकि इन्हीं के द्वारा मनुष्य को काम, रूप अर्थात् वासनाओं से निर्मित शरीर मिलता है। यही देवगण मनुष्य का सूक्ष्म शरीर निर्माण करते हैं और उसकी सूक्ष्म इन्द्रियों को सचेत करते हैं, जिनके द्वारा मनुष्य इन्द्रिय-ज्ञान प्राप्त

करता है। गगनमण्डल के देवताओं का मुख्य स्वभाव इन्द्रिय-ज्ञान का उत्पन्न करना है। जहाँ कहीं थरथराहट (vibration) अथवा स्पर्श होता है, वहीं कोई न कोई देवता अपने आपको उससे सम्बन्धित कर लेता है। और न केवल यही वरञ्च इस थरथराहट वा स्पर्श के सुख-दुःख और प्रिय-अप्रिय का बोध उत्पन्न कर देता है। ऐसे स्पर्श-ज्ञान (Sensation) को करनेवाले और विविध चेतनावाले देवताओं से गगन-मण्डल परिपूरित है। जिस प्राणी का देह इन देवताओं से निर्माण किया हुआ होता है उसमें स्पर्श-ज्ञान की सामर्थ्य होती है। और मनुष्य ऐसी ही निर्मित देह के कारण विषयों के सुख-दुःख, प्रिय-अप्रियों का अनुभव करता है। मनुष्य को अपने शरीर के रन्ध्रों अर्थात् (सेल्ज़) (cells) कणों की चेतना का बोध नहीं होता। रन्ध्रों में अपनी चेतना अलग होती है और वह मनुष्यों की चेतना से भिन्न होती है। इसी चेतना के अनुसार रन्ध्र मनुष्य के जीवन के अर्थ अनेक क्रिया करते हैं, अर्थात् मनुष्य के शरीर में जिस वस्तु की न्यूनता होती है, उसे बाहर से लेजाकर पूर्ण करते हैं और जिस पदार्थ की अधिकता होती है, उसे बाहर निकालते हैं। मनुष्य अपनी चेतना द्वारा रन्ध्रों की इस क्रिया को न तो घटा सकता है और न बढ़ा सकता है। मनुष्य अपनी चेतना को हृदय के किसी रन्ध्र की चेतना में कभी ऐसा लीन नहीं कर सकता कि जिससे उसको रन्ध्र की क्रिया का यथार्थ ज्ञान हो। मनुष्यों की चेतना सामान्य

रीति से गगन-मण्डल में कार्य्य करती है, और यह कार्रवाई इस मण्डल के उच्च भवनों में भी काम-युक्त मनस् द्वारा हुआ करती है। शुद्ध मनस् कभी इस मण्डल में कार्य्य नहीं करता।

(Astral) गगन-मण्डल उसी प्रकार के देवताओं से पूरित है जिनसे मनुष्य का सूक्ष्म देह बना हुआ होता है। इन्हीं से पशुओं का काम देह भी बनता है, सूक्ष्म देह ही के कारण मनुष्य का सम्बन्ध इन देवताओं से होता है, और उन देवताओं की सहायता से अपने आस पास के पदार्थों के साथ सम्बन्धित होता है, और उनके प्रिय वा अप्रिय होने का अनुभव करता है। मनुष्य अपनी इच्छा, मानसिक तरङ्गों और वासनाओं के द्वारा गगन-मण्डल के असंख्य प्राणियों पर अपना भाव डालकर उनको चारों ओर से आकर्षित करता है। इस लेख से यह सिद्ध होता है कि सूक्ष्म शरीर एक कला के समान है, जिस रीति से यह कला बाहर से आये हुए स्पर्शों को ज्ञान में बदलती है ठीक उसी प्रकार अभ्यान्तरिक इन्द्रियाँ ज्ञान को थरथराहट में बदलती हैं।

संकल्प-रूपों की उत्पत्ति

उक्त व्याख्या की सहायता से अब हम महात्मा के अमृत रूपी वचनों को भली प्रकार से समझ सकेंगे। मन अपने भवन अर्थात् गगन-मण्डल की सूक्ष्मतर प्रकृति में कार्य्य करके नाना प्रकार के आकार उत्पन्न करता है; इन आकारों को संकल्प-रूप

[Thought forms] कहते हैं। मन की जिस शक्ति से यह रूप उत्पन्न होते हैं उसे कल्पना शक्ति [Imagination] कहते हैं। यदि इसको मनस् की जननी शक्ति भी कहा जावे, तो बहुत ठीक है। सम्भाषण के समय संकल्प-रूपों को दूसरों के समक्ष प्रकट करने के अर्थ शब्द तो एक तुच्छ और अधूरासा साधन है। शब्दों में इतनी सामर्थ्य नहीं होती है कि वह एक मनुष्य के मन के आशय को दूसरे के मन में यथार्थ रूप से पहुँचा देवे, क्योंकि प्रत्यय अथवा संकल्प-रूप एक बड़ी संकीर्ण [complicated] सी वस्तु है, उसके यथार्थ रूप के वर्णन के अर्थ कई वाक्य कहने पड़ते हैं। वर्त्तालाप में एक आशय के प्रकट करने के लिये बार बार लम्बे लम्बे वाक्य कहने पड़ते हैं। जिनसे एक तो समय व्यर्थ व्यतीत होता है और दूसरे बात का आनन्द जाता रहता है; इसलिये वर्त्तालाप की सुगमता के वास्ते संकेत नियत किये जाते हैं। इन संकेतों के नियत करने की रीति यह है कि किसी प्रसङ्ग के मानसिक रूप के प्रधान चिह्न को लेकर, उस चिह्न के सूचक शब्द से सब प्रसङ्ग को सूचित करते हैं; प्रधान चिह्न के नाम और प्रसङ्ग में यह सम्बन्ध संकेत मात्र होता है, जैसे त्रिकोण शब्द का श्रवण श्रोता के चित्त में एक आकार उत्पन्न करता है, जिसको पूरा पूरा शब्दों द्वारा वर्णन करना, बिना कई वाक्यों के, असम्भव है। यहाँ केवल आकार के प्रधान चिह्न अर्थात् तीन कोनों को देख कर आकार

का नाम त्रिकोण रक्खा गया है। गूढ़ चिन्तन प्रायः चिह्नों द्वारा ही हुआ करता है, और चिन्तन का तात्पर्य्य फिर यत्न के साथ संकेतित शब्दों के द्वारा प्रकट करते हैं।

जिन भवनों में एक मन के साथ दूसरे मन का सम्भाषण होता है, वहाँ मन का आशय ऐसी पूर्ण रीति से जाना जाता है जो शब्दों द्वारा जानना कठिन है। संकल्प संक्रमण [Thought transference] क्रिया में भी मनुष्य निज अभिप्राय को दूसरे के चित्त में पहुँचाने के लिये शब्दों का उच्चारण नहीं करते, किंतु केवल अपने संकल्प के प्रत्ययों (ideas) द्वारा पहुँचा देते हैं। वक्ता अपनी सामर्थ्य के अनुसार निज मानसिक रूपों को शब्द द्वारा प्रकट करता है, और यह शब्द श्रोता के मन में वैसे ही रूप उत्पन्न करते हैं, जैसे वक्ता के चित्त में होते हैं। मन का व्यवहार आकारों अर्थात् चित्रों से होता है, शब्दों से नहीं। शब्दों से तो केवल श्रोत्रेन्द्रिय का व्यवहार होता है, बहुत से झगड़े और विवाद जो नित्य देखने में आते हैं उनका मूल कारण यह है कि वक्ता अपने अभिप्राय को प्रकट करने के लिये जो शब्द बोलता है श्रोता उस शब्द से अन्य आकार अपने चित्त में धारण करता है।

मानसिक रूप दिव्य प्रकृति से बनते हैं। यह रूप दिव्य प्रकृति की तीव्रता से थरथरानेवाले परमाणुओं से बने हुए होने हैं। यह थरथराहट किसी योग्य प्राणी में शब्द और प्रकाश वर्ण (color)

का ज्ञान उत्पन्न करती है। संकल्प-रूप के परमाणुओं की थरथराहट ज्यों ज्यों गगन-मण्डल के निचले भवनों की अधम प्रकृति में उतरती आती है, उतनी ही यह चारों ओर प्रकाश-युक्त ध्वनि उत्पन्न करती है, और अपने वर्ण के रङ्ग से सम्बन्धित देवताओं को आवाहन कर अपने स्रोतम् [संकल्प-रूप] की ओर ले जाती है।

विश्व की अन्य सब वस्तुओं के समान देवगण भी सप्त प्रजापतियों में से किसी न किसी के साथ अवश्य सम्बन्ध रखते हैं। शब्द ब्रह्म की तृतीय अवस्था के शुद्ध निरञ्जन प्रकाश में से सप्त रङ्ग की किरणें निकलती हैं। प्रत्येक किरण में से फिर सप्त रश्मि निकलती हैं। इसी प्रकार हर एक रश्मि सप्त उपरश्मियों में विभक्त है। इस प्रकार शब्द ब्रह्म की अनेक रश्मियों से वह सब संसार आच्छादित हुआ है। और यही सब उपनिषदों और वेदों का भी सिद्धांत है। सृष्टि की अनन्तर रचना इन्हीं रश्मियों के सम्बन्ध से होती है। इन रश्मियों को प्रकृति के निचले भवनों में देवता के नाम से पुकारते हैं। इन देवताओं के साथ मनुष्य संभाषण भी कर सकता है, परन्तु स्मरण रहे कि यह संभाषण लौकिक रीति से वाणी द्वारा नहीं हो सकता; इनके साथ वार्त्तालाप ऐसी भाषा में होता है, जिसकी वर्णमाला अक्षरों की नहीं है, वरञ्च रङ्गों और रङ्गों के सूक्ष्म भेदों से निर्मित है। इन रङ्गों की भाषा का सविस्तार वर्णन मात्र शास्त्र

में आता है। आजकल यह विद्या बहुत कुछ लुप्त हो गई है, और जो कहीं कुछ थोड़ी बहुत है, वह भी लुप्त होती जाती है। यह विद्या परम्परा से गुप्त रक्खी जाती है, क्योंकि शब्द, रङ्ग और अङ्कों के यथार्थ बोध हो जाने से मनुष्य अपनी इच्छा शक्ति के बल से इन देवताओं के साथ सम्भाषण कर सकता है, और उनको अपने वश करके जो चाहे वह काम भी ले सकता है।

इस रङ्ग भाषा के विषय में महात्मा "क० ह०" का यह कथन है कि तुम अपना आशय विश्व की ऐसी मन्दमति शक्तियों को किस विधि समझा सकते हो और वशीभूत क्योंकर कर सकते हो, जब कि इनके साथ संभाषण का साधन लौकिक वाणी नहीं है, किन्तु नाद (Sound) और रङ्ग (Colour) के परस्पर सम्बन्धित थरथराहट से बनी हुई वाणी है। इन शक्तियों की अनेक श्रेणियाँ नाद, प्रकाश और रङ्ग के ही भेद के कारण होती हैं। इनकी सत्यता का न तो तुमको कुछ पता है और न इस पर तुम्हारा विश्वास ही है। नास्तिक, ईसाई आदि अपने अपने तर्कों के अनुसार लोगों के विश्वास को दूर करते जाते हैं। सायन्स विद्या तो सबसे बढ़कर इसको मिथ्या धर्म्म समझ कर विश्वास हीन हुई है।

देश देशान्तर के प्राचीन ग्रन्थों में इस रङ्ग भाषा के बहुत से उदाहरण मिलते हैं। मिस्र देश में भी प्राचीन समय में

अलौकिक धर्म्म-पुस्तकें रङ्गों में ही लिखी जाती थीं। यदि कोई लेखक प्रति में किञ्चन्मात्र भी अशुद्धि करता, तो उसको मृत्यु-दण्ड दिया जाता था। इस प्रकार की आश्चर्य्यमय वार्त्ताओं का इस स्थान में सविस्तार लिखना आवश्यक नहीं। यहाँ हमारा प्रयोजन केवल इस बात के प्रकट करने का है कि देवताओं (Elementals) के साथ संभाषण रङ्गों द्वारा किया जाता है। रङ्गों द्वारा उनको हमारा आशय ठीक वैसे ही प्रतीत हो जाता है जैसे हमको एक दूसरे के आशय लौकिक वाणी द्वारा विदित हो जाते हैं।

संकल्प-रूपों के सूक्ष्म भेद होते हैं। इन रूपों को उत्पन्न करनेवाले मनुष्य के मन में जिस प्रकार का प्रेरित हेतु होता है, उसी प्रकार का रङ्ग उस रूप के ध्वनि युक्त प्रकाश का भी होता है। यदि प्रेरक हेतु शुद्ध, प्रेममय और परोपकार के निमित्त हो, तो उसका सम्बन्धित रङ्ग उसके संकल्प-रूप की ओर ऐसा देवता आकर्षण करेगा जो शुभ, प्रेममय और उपकार युक्त कर्मों में उद्योगी हो। यह देवता उसको चेतन बनाता है, मानो यह देवता उस जड़ रूप का जीवात्मा है। इस प्रकार से गगन-मण्डल में परोपकारी स्वतन्त्र प्राणी उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त यदि प्रेरक हेतु अशुद्ध, अक्षमी और अपकारी हो, तो उसका सम्बन्धित रङ्ग ऐसे देवता को संकल्प-रूप की ओर आकर्षण करेगा, जो अशुभ, निकृष्ट और अपकारी कर्मों में

उद्योगी हो। पहले के समान यह देवता भी संकल्प-रूप में प्रविष्ट हो, उसे सचेत बनाता है। इसी रीति से गगन-मण्डल में आसुरी भाव वाले अपकारी प्राणी उत्पन्न होते हैं।

क्रोध से उत्पन्न हुए संकल्पों की थरथराहटों का प्रकाश रक्त वर्णवाला होता है। यह रक्तवर्ण अपनी श्रेणी के देवगणों को उस क्रोधी संकल्प-रूप की ओर आकर्षित करता है। देवगणों में से एक उस रूप में घुसकर उसमें घातक और विनाशक उद्योगिता प्रकट करती है। साधारण मनुष्य इस प्रकार अपने भले-बुरे भावानुसार अजानता से ही गगन-मण्डल के प्राणियों से संभाषण करते हैं, और उनके समूहों को अपने चारों ओर आकर्षित कर, उन्हें अपने संकल्प-रूपों में निवास-भूमि देते हैं। यही कारण है कि मनुष्य अपने आकाशिक तेज के प्रवाह में निरन्तर निज सृष्टि रचता है, जो उसके विकल्प, वासना, तृष्णा और काम की तरङ्गों से उत्पन्न हुए प्राणियों से परिपूरित रहता है। हमारे ही उत्पन्न किये हुए देव और दैत्य हमें चारों ओर से घेरे हुए हैं। इन्हीं से हमें सुख-दुःख प्राप्त होता है। अन्य मनुष्यों को भी इनके संसर्ग से सुख-दुःख मिलता है। निस्सन्देह इन्हीं को यमराज के दूत कहते हैं।

प्रत्येक मनुष्य का चारों ओर जो तेज होता है उसके रंग प्रतिक्षण संकल्प और भावानुसार बदलते रहते हैं, और केवल उन मनुष्यों को दिखलाई देते हैं, जिनकी दिव्य दृष्टि खुली हुई

होती है। जिन महापुरुषों की दिव्य दृष्टि विशेष रूप से खुल जाती है उनको संकल्पों के रूप और देवगणों की श्रेणियों पर रंगों के भाव भी प्रतीत होने लगते हैं।

संकल्प-रूपों की उपयोगिता

इन प्राण प्रतिष्ठित संकल्प-रूपों की आयु प्रथम तो उनके आदि वेग (Initial intensity) से निर्णय होती है, अर्थात् इनको उत्पन्न करनेवाले मनुष्यों के संकल्प दृढ़ होने से, इनकी आयु दीर्घ और मध्यम होने से अल्प होती है। दूसरे, इनकी आयु उस आहार पर निर्भर है, जो इनको उत्पत्ति के पश्चात् अपने उत्पत्तिकर्त्ता, अथवा अन्य मनुष्यों द्वारा उन्हीं संकल्पों पर बार-म्बार चिन्तन करने से मिलता है। चिन्तन के पुनराभ्यास से उनकी निरन्तर वृद्धि होती रहती है। जिस संकल्प को बार-म्बार मगन होकर ध्याया और रटा जावे, वह गगन-मण्डल में दृढ़ रूप से स्थित हो जाता है। इसके अतिरिक्त सजातीय सङ्कल्पों में परस्पर आकर्षण भी होता है, जिससे उनकी परस्पर पुष्टि होती है; इस विधि गगन-मण्डल में महाबली और उद्योगी रूप देवता विद्यमान होते हैं।

संकल्प-रूपों और उनके उत्पत्ति कर्त्ताओं में एक अदृश्य गूढ़ सम्बन्ध (Magnetic tie) भी होता है, जिसके कारण वह अपने

अपने उत्पत्ति कर्त्ताओं के चित्त में भाव डालकर, अपनी पुनरुत्पत्ति के संस्कार जागते हैं, अर्थात् उनके चित्त में विद्यमान होकर उनको अपने ही चिन्तन करने, और निज भावानुसार बर्त्ताव करने की प्रेरणा करते हैं। पुनराभ्यास से जब कोई संकल्प दृढ़ हो जाता है तो चित्त में उसके चिन्तन का निश्चित भाव उत्पन्न हो जाता है, मानो एक ऐसी प्रणाली बन जाती है कि जिसमें चिन्तन शक्ति का प्रवाह बिना रोक निर्यत्न स्वतः सिद्ध बहने लगता है, और इससे मानसिक उन्नति में सहायता मिलती है यदि भाव श्रेष्ठ और अत्युत्तम हो; अन्यथा यह भाव निकृष्ट होने के कारण महा विघ्नकारी और दुःखदाई हुआ करता है।

स्वभावों के बनने की इस रीति पर कुछ थोड़ा सा विचार करना यहाँ पर उचित जान पड़ता है, क्योंकि इससे कर्मों की गहन गति सूक्ष्म परिमाण से भली भाँति प्रकट होती है। उदाहरण की रीति से कल्पना कर लो कि एक ऐसा सज्जीभूत (Ready-made) चित्त है कि जिसमें भूत काल के कर्मों का कोई संस्कार नहीं है। ऐसे चित्त का मिलना यद्यपि असम्भव है, तथापि कल्पित उदाहरण से हमारा उद्देश्य भली भाँति सिद्ध हो जावेगा। ऐसा चित्त माना जा सकता है, जो सम्पूर्ण स्वतन्त्रता से निज इच्छानुसार चिंतन करके एक संकल्प रूप उत्पन्न करता है। इसके अनन्तर उसी संकल्प को बारम्बार रटने से चिन्तन की एक निश्चित वृत्ति उत्पन्न हो जाती है। ऐसी वृत्ति के उत्पन्न

होने पर फिर चित्त स्वयमेव अजानता से ही, उस संकल्प के चिन्तन में लग जाया करेगा, मानो चिन्तन शक्ति का प्रवाह, इच्छा किये बिना ही उस संकल्प की ओर बहने लगेगा। अब मान लो कि चित्त इस वृत्ति को किसी कारण निन्दित समझने लगा है, और उसको अपनी उन्नति में हानि-कर्त्ता जानकर उसका त्याग करना चाहता है। स्मरण रहे कि आदि में यह वृत्ति चित्त की निज स्वतंत्र कार्रवाई से उत्पन्न हुई थी, फिर उसकी शक्ति के प्रवाह के लिये सज्जीभूत [तैयार] प्रणाली विधान करके उसके कार्य्यों में सहायकारी हो गई है। यदि चित्त इस वृत्ति से रहित होना चाहे, तो हो सकता है। जिस प्रकार निज पुरुषार्थ से इसे उत्पन्न किया था, उसी प्रकार निज आन्तरीय पुरुषार्थ से इस विघ्न रूपी सचेतन बेड़ी को (Living fetters) छिन्न भिन्न वरञ्च नष्ट भी कर सकता है। इस उदाहरण में हमने मानसिक कर्म्म के एक छोटे से युग की गति को शीघ्र व्यतीत होते देख लिया है। स्वतंत्र चित्त पहले तो एक बन्धनरूपी स्वभाव बनाता है, और फिर उसे अपने ही बनाये हुए बन्धनों में कार्य्य करना पड़ता है, तथापि बन्धनों के घेरे के भीतर उसे कार्य्य करने में पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। यदि चाहे तो आन्तरीय परिश्रम से उसके प्रतिकूल कार्य्य करके उसका विनाश कर दे। इसमें किञ्चित् सन्देह नहीं है कि हम अपने आप को कभी किसी कार्य्य के आरम्भ में पूरा स्वतन्त्र

नहीं पाते, क्योंकि पूर्वजन्म-कृत कर्मों के अनुसार अपनी ही बनाई हुई बेड़ियों से बँधे हुए जन्म लेकर संसार में आते हैं। परन्तु हर एक बेड़ी की गति उक्त रीति से होती है। मन ही इसे निर्माण करता है, वही इसे पोषण करता है, और पोषण करते समय यदि चाहे तो घिस घिस कर उसे चूर्ण अथवा क्षय भी कर सकता है।

संकल्प-रूप अपने उत्पत्ति कर्त्ताओं द्वारा किसी निश्चित मनुष्य की ओर भेजे जा सकते हैं। यह संकल्प-रूप अपने प्राण प्रतिष्ठित देवताओं की प्रकृति के अनुसार निश्चय करके मनुष्यों को हानि वा लाभ पहुँचाते हैं। यह कोई मनघडित बात नहीं है कि आशीर्वाद, प्रार्थना और प्रेममय वचनों से मनुष्यों को अवश्य लाभ होता है, इन आशीर्वाद आदि से प्रेरणा किये हुए रक्षक देवताओं के समूह के समूह आशीरपात्र (यजमान) मनुष्य के चारों ओर आच्छादित हो जाते हैं और उनको अनेक आपत्तियों से और निकृष्ट भावी से बचाते हैं।

मनुष्य अपने संकल्प-रूपों को उत्पन्न कर, उन्हें केवल अन्य मनुष्यों की ओर भेजता ही नहीं, वरंच अपने संकल्प-रूपों के सजातीय रूपों को, (जो अन्य मनुष्यों द्वारा उत्पन्न किये हुये होते हैं) गगन-मण्डल में से चुंबकवत् आकर्षित भी करता है। इस तरह बाहर से आकर्षित कर अपनी शक्ति को बढ़ा सकता है; परन्तु यदि उसके संकल्प शुद्ध और उत्तम हों, तो

वह अपनी ओर कल्याण-कारी शक्तियों को निर्यल ही आकर्षित कर, अपनी सामर्थ्य को बढ़ा, ऐसे ऐसे महान् कार्य्य कर डालेगा, जो उसकी सामर्थ्य से बाहर है, और पीछे से उसे प्रायः यही आश्चर्य रहेगा कि वित्त से बढ़कर ऐसे महान् कार्य्य करने की सामर्थ्य मुझमें कहाँ से आ गई थी। इसी भाँति यदि मनुष्य के संकल्प निकृष्ट और अशुद्ध हैं, तो वह अपकारी शक्तियों के समूह को आकर्षित कर इनके बल द्वारा अपने वित्त से वह ऐसे ऐसे अपराध कर डालेगा कि जिनका उसे पीछे महा पश्चात्ताप होगा और कहेगा कि "आश्चर्य की बात है कि ऐसे बड़े उग्र पाप के करने का साहस मुझमें कहाँ से आ गया। हो न हो, उस समय अवश्य मेरे सिर कोई भूत चढ़ गया होगा जिसने यह करतूत मुझसे कराया"। निःसन्देह गगन-मण्डल की अपकारी शक्तियों ने उसके म्लेच्छ भाव होने के कारण उसकी ओर खिंचकर यह महान् शक्ति प्रदान की थी। संकल्प-रूप देवता चाहे भले हों वा बुरे, मनुष्य की वासना-युक्त सूक्ष्म देह के देवताओं और उसके निज संकल्पों के साथ संबन्ध उत्पन्न कर लेते हैं, और बाहर से उसमें प्रेरणा करके उससे बड़े बड़े कार्य्य करवा डालते हैं। उक्त संबन्ध सजातीय देवताओं पर होता है। विजातियों पर उनका कुछ वश नहीं चलता, क्योंकि विजातीय संकल्प-रूपों के देवता परस्पर प्रति-घातक (repellent) होते हैं। इसलिये सत्पुरुष केवल अपने तेज (aura) बल

से ही मलीन और अधम योनि के देवताओं अथवा भूत-प्रेतों को परे भगा देते हैं। सत्पुरुषों के गिर्द यह तेज चार-दीवारी के समान रक्षक होता है, और किसी आपत्ति को उनके निकट नहीं आने देता।

गगनमण्डल के देवताओं में एक अन्य प्रकार की उद्योगिता होती है, जिसके कारण बड़े बड़े फल देखने में आते हैं। इस लिये कर्म्मजाल को निर्म्माण करनेवाली शक्तियों के संक्षिप्त वर्णन में से उस उद्योगिता के वर्णन का त्याग करना योग्य नहीं है। यह उद्योगिता पूर्व लिखित महात्मा के वाक्य के अन्तर्गत है। संकल्प-रूप आकाशिक तेज के प्रवाह में रहते हैं, और यह प्रवाह जिस कोमल प्रकृतिवाले मनुष्य के साथ स्पर्श करते हैं, उसी पर अपने वेग की तीव्रता के अनुसार प्रतिभाव डालते हैं। किसी अवधि तक तो इस प्रवाह का भाव सब पर पड़ता है, परन्तु जितनी कोमल प्रकृति होती है, उतना ही उस पर अधिक असर होता है। सजातीय देव परस्पर आकर्षण शक्ति द्वारा एकत्र हो, सहचारी पुञ्ज बन जाते हैं, और अपनी प्रकृति के अनुसार कल्याण वा अकल्याणकारी होते हैं। सजातीय संकल्प-रूपों के संग्रह हो जाने के कारण विदेशीय और विजातीय पुरुषों अथवा अन्यान्य कुटम्बों में मति-भेद होता है, इसी लिये एक कुटुम्ब के पुरुषों की मति दूसरे कुटुम्ब के पुरुषों से नहीं मिलती। एक देश अथवा एक संप्रदाय के सभ्यों में जो मति किसी विषय में होती

है, वह अन्य देश और अन्य संप्रदाय के लोगों में नहीं होती। मनुष्यों के चारों ओर इन संकल्प-रूपों से मानो बादल सा छा जाता है, जिसमें से प्रत्येक पदार्थ दृष्टि-गोचर होता है। जैसे स्फटिक मणि समीपवर्ती पुष्प के रङ्ग से युक्त भासती है, वैसे ही दृष्य पदार्थ इस मेघ से रञ्जित होकर, मनुष्य की बुद्धि में भासता है। ये मेघ मनुष्य के कामनायुक्त मनस् में अपनी प्रतिक्रिया से स्पन्द अथवा थरथराहट को उठाकर उनके हृदय में अपने जैसी भावना की प्रेरणा करता है। ऐसे ऐसे कुटुम्ब, स्थान और जाति के संग्रहीत कर्मों के कारण, मनुष्य की उद्योगिता बहुत कुछ बदल जाती है, और निज योग्यता के प्रकट करने की शक्ति भी बहुत कुछ सीमाबद्ध हो जाती है। यदि किसी ऐसे मनुष्य से कोई ज्ञान की वार्त्ता कही जावे, तो उसे प्रायः उसका बोध यथायोग्य न होगा, क्योंकि उसके इर्द गिर्द के आच्छादित मेघ में से होकर जिस प्रकार का आभास उसकी बुद्धि में पड़ेगा, वैसा ही ज्ञान उसमें फुरेगा। यह आभास मेघ के गुणों से रञ्जित हो जाता है, और प्रायः तो ऐसा बदल जाता है कि उसका वास्तविक गुण छिप जाता है, और कुछ का कुछ दृष्टि-गोचर होता है। कर्मों की यह गति अतीव गूढ़ है, इसका सविस्तार वर्णन आगे किया जावेगा। उक्त एकसाँ चित्त वाले देवगणों का भाव मनुष्यों पर ही नहीं होता किंतु जब यह पुञ्ज-घातक और विनाशक संकल्पों से बना हुआ होता है, तो उसका

प्रकाश स्थूल लोक के मण्डल में महा भयंकर और संहार रूप होता है, मानों यह पुञ्ज विनाशकारी शक्तियों का एक स्रोत है, जिसमें से बड़ी बड़ी आपदाओं और क्लेशों की उत्पत्ति होती है। इन्हीं से बड़े बड़े चण्डवात [Storms] आँधी, चक्रवात, (Hurricanes) भूकंप, जल-प्रलय [Floods] प्रभृति संसार में विद्यमान होते हैं। कर्मों के इन फलों का सविस्तार वर्णन भी आगे ही किया जावेगा।

प्रत्येक कोष के कर्म्मों की रचना

मनुष्य और देवगणों के परस्पर सम्बन्ध, और चित्त की जननीय शक्ति के अनुभव करने के अनन्तर, एक जीवन के कर्म्मों की उत्पत्ति और उनकी गति कुछ कुछ समझ में आने लगती है। इस स्थान में जीवन शब्द एक ऐसे छोटे से काल-चक्र का सूचक है जिसके अन्तर्गत निम्नलिखित चार अवस्थायें मनुष्य के जीवन की हैं—

१ म, स्थूल-मण्डल अर्थात् दृश्य जगत् का जीवन, जो स्थूल देह द्वारा होता है। २ य, गगन-मण्डल अर्थात् सूक्ष्म जगत् का जीवन, जो मनुष्य को स्थूल देह के त्यागने के पश्चात् सूक्ष्म शरीर में प्रवेश होने पर प्राप्त होता है। ३ य, स्वर्ग लोक का जीवन, जो मनुष्य को स्थूल देह के समान सूक्ष्म शरीर के त्यागने के पश्चात् कारणशरीर को धारण करने पर प्राप्त होता है।

४ थे, जीवन की वह अवस्था है, जो जीव को स्वर्ग से निकलने के पीछे भूमण्डल में पुनर्जन्म लेने के पहले भोगनी पड़ती है।

प्रत्येक मनुष्य को अपना काल-चक्र पूर्ण करने के अर्थ इन चारों अवस्थाओं में अवश्य गमन करना पड़ता है। इस युग में मनुष्य जाति की वर्त्तमान दशा में सामान्य मनुष्य चाहे कितना ही अधिक और उच्च ज्ञान प्राप्त क्यों न कर ले, उसे इस कालचक्र की चारों अवस्थाओं में तब तक अवश्य गमन करना पड़ता है, जब तक उसकी अध्यात्मिक उन्नति एक विशेष पद तक पहुँच कर आत्मज्ञानदायक न होती हो। इस बात को भली भाँति जान लेना परमावश्यक है कि स्थूल देह के वियोग के अनन्तर शेष तीन अवस्थाओं में निवास का समय, स्थूल देह के जीवन-काल की अपेक्षा बहुत ही अधिक होता है। इसी लिये मृत्यु के अनन्तर की अवस्थाओं में यदि जीव की गति और उसकी क्रिया को न विचारें तो कर्म्मों की गहन मति का ज्ञान बहुत ही अधूरा रहेगा। अब हम एक महात्मा के कथन को साक्षी की रीति पर यहाँ लिखते हैं। जिसमें यह वर्णन किया गया है कि मनुष्य का यथार्थ जीवन स्थूल देह के अनन्तर होता है।

"वेदान्ती दो प्रकार का जीवन मानते हैं। एक लौकिक और दूसरा पारलौकिक। उनका यह भी कथन है कि इसमें किंचित् भी संशय नहीं कि पारलौकिक जीवन ही सत्य है, सत्य क्योंकि लौकिक जीवन तो सदैव बदलता रहता है, और

उसकी आयु भी बहुत अल्प है, और यह केवल हमारी इन्द्रियों के बने हुए इन्द्रजाल के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। ऊर्द्ध लोकों का जीवन ही सत्य मानना चाहिये, क्योंकि इन्हीं लोकों में हमारा अवच्छिन्न, निर्विकार और अमर सूत्रात्मा निवास करता है····इसी वास्ते मृत्यु के पीछे की अवस्था को सत्य और लौकिक जीवन तथा उसके अहंकार को असत्य माना जाता है"।

लौकिक जीवन में जीव की उद्योगिता का मुख्य प्रकाश संकल्प-रूपों की उत्पत्ति में होता है, जिनका पहले वर्णन हो चुका है। अब कर्म गति को ठीक ठीक समझने के लिये सबसे पहले संकल्प-रूपों के जानने की परमावश्यकता है कि वह क्या है। जीवात्मा चित्त रूप धारण कर मानसिक चित्र उत्पन्न करता है, इस मानसिक चित्र को आदि चित्र कहते हैं। क्योंकि यह संकल्प की आदि अवस्था होती है। यह चित्र निज उत्पत्ति-कर्त्ता की सम्वित अर्थात् चेतना का अंश बनकर, उसका साथी बना रहता है, और इसी से सूक्ष्म प्रकृति में अथवा आकाश में स्पन्द-रूप सत्ता अर्थात् रूपदेवता बन जाते हैं। शब्द अथवा वाणी की यह वह अवस्था है जो विचार में तो आ चुकी है, परन्तु मुख द्वारा उच्चारण में नहीं आई। जिज्ञासुओं को उचित है कि संकल्प-रूप अन्य वृत्तियों से मन को रोक कर, एक ही संकल्प-रूप में इसको बद्ध करें, और उसके फलों को त्याग उसके यथार्थ रूप को विचारें। यह चित्र अर्थात् संकल्प अपने उत्पत्तिकर्त्ता

की चेतना का अंश हो, उसके स्वभाव का अवच्छेद्य (Inalienable) भाग हो जाता है। वह उससे कभी भी भिन्न नहीं किया जा सकता, वरञ्च लौकिक जीवन में उसके सङ्ग रहकर मृत्यु के अनन्तर अदृश्य लोकों में भी उसके साथ साथ जाता है। जब इसका उत्पत्ति-कर्त्ता ऊर्द्ध लोकों में गमन करता हुआ ऐसे लोकों में प्राप्त होता है जहाँ की प्रकृति अति सूक्ष्म और अघन होने के कारण अतीव तीव्र स्पन्दमय होती है, तो इस चित्र की घन और असूक्ष्म प्रकृति छिन्न-भिन्न हो अधः लोक में विस्तृत हो जाती है, और उस चित्र का संस्कार उत्पत्ति-कर्त्ता के सङ्ग रह जाता है। फिर जब जीवात्मा ऊर्द्ध लोक से लौटता है तो यही संस्कार, जो कि सङ्कल्प का बीज रूप था, फिर अपनी त्यागी हुई घन प्रकृति को आकर्षित कर पूर्ववत् ही अपना चित्र बना लेता है। जैसे कि वृक्ष के बीज भी पृथ्वी से यथोचित्त आहार ग्रहण कर अपना ही रूप, फल, फूल और रस ग्रहण करते हैं, अर्थात् गलगल एक विशेष रूप, और आमल रस को, और मीठे नींबू, निराले रूप और मधुर रस को ही ग्रहण करते हैं।

यह मानसिक चित्र दीर्घकाल तक प्रसुप्त अवस्था में भी रहते हैं, और अपनी प्रबोधक सामग्री के प्राप्त होने पर जाग उठते हैं, और निज कार्य्य करने लगते हैं। यह प्रबोधक सामग्री तीन प्रकार से प्राप्त होती है—१ तो उत्पत्ति-कर्त्ता के पुनरावेग,

अर्थात् उस विषय को फिर तीव्रता से विचार करने से, २ य, चित्त-भूमि में उसी सङ्कल्प से पैदा हुई अन्य वृत्तियों और उनके फल के पुनः प्रवेश से, और ३ य, चित्त-भूमि में अन्यान्य सजातीय संकल्प-रूपों के भाव पड़ने से। प्रबोधक सामग्री से मानसिक चित्र की जीवनशक्ति बढ़ जाती है और उसके रूप तथा आकार में भी परिणाम हो जाता है।

मानसिक चित्रों का प्रादुर्भाव प्रकृति के नियमानुसार होता है। इन्हीं के संग्रह से मनुष्य का स्वभाव बनता है। जिस प्रकार छोटे छोटे रंध्र (cells) संग्रहीत होकर देह के रंग पट्ठे बनाते हैं, और बनाते समय बहुत कुछ बदल जाते हैं, इसी प्रकार मानसिक चित्र भी एकत्र होकर मनुष्य के स्वभावों को बनाते हैं, और प्रायः इस क्रिया के समय यह भी बदल जाते हैं। कर्म्मों की गति के बोध से इन परिवर्त्तनों का बहुत कुछ भेद स्पष्ट हो जावेगा।

मनस् की क्रिया शक्ति के कारण इन मानसिक चित्रों की बनावट में बहुत से द्रव्य काम में आते हैं। यदि मन काम से उद्योगित होकर कोई सङ्कल्प करता है, तो उस सङ्कल्प का चित्र कामिक गुणमय द्रव्यों से बनता है, और राजस् तथा तामस् स्वभाव को उत्पन्न करनेवाला होता है। इससे विपरीत यदि मनस् किसी उत्तम उद्देश्य का विचार करे, तो उस विचार का चित्र सात्विक प्रकृति से बनता है और शान्तशील होता है।

जैसा जैसा संकल्प होगा वैसा ही उसका चित्र होगा। मानसिक चित्र शुद्ध वा अशुद्ध, विचारशील वा कामबद्ध, उपकारी वा अपकारी, और कैसा ही क्यों न हो, सबके सब मनुष्य की चित्त-भूमि को सदैव निज आश्रय बना रखते हैं, इन्हीं के कारण पृथक् पृथक् मनुष्यों के कर्म्म भिन्न भिन्न बनते हैं। इन चित्रों के आश्रय बिना मनुष्य का एक जन्म २ य, जन्म से कभी संबन्धित नहीं हो सकता। कर्म्मों की नित्य सत्यता के वास्ते इनके साथ मनस् की शक्ति का संयोग होना आवश्यक है। जब तक कोई क्रिया मानसिक शक्ति से संपन्न न हो, तब तक वह नित्य और अपरच्छेद्य नहीं बन सकती। धातु (minerals), उद्भिद (vegetable) और पशु जातियों के पृथक् पृथक् कर्म्म इसी वास्ते नहीं होते कि उनकी क्रियाओं के सङ्ग मानसिक शक्ति का संयोग नहीं होता।

अब इस बात पर विचार करना विधेय है कि उक्त मानसिक चित्रों का संबन्ध उन उपचित्रों के साथ क्या है, जो कि गगन-मण्डल के देवगणों के साथ संयुक्त होकर उद्योगी संकल्प रूप कहलाते हैं। उपचित्र क्या होते हैं, और उनकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है, पहले इस बात का वर्णन किया जाता है। यह उपचित्र शब्द की उस अवस्था में बनते हैं, जो वैखरी और मध्यमा वाक् के बीच में होती है, अर्थात् हृदय से शब्द के उठने के अनन्तर और कण्ठ में आने से पूर्व की अवस्था में यह उपचित्र

बनता है। जब कोई विचार चित्त-भूमि से निकल गगन-मण्डल में स्पन्द रूप होकर आता है, तो उस मण्डल की दिव्य प्रकृति के प्रमाणुओं को अपने स्पन्द के कारण एकत्र कर उपचित्र बनाता है। जिस प्रकार ब्रह्माजी मन के संकल्प उत्सृज होने पर दृश्यमान जगत् को रचते हैं, ठीक उसी प्रकार मनुष्य के मानसिक चित्र चित्त-भूमि से बाहर निकल कर उपचित्रों की मानसिक सृष्टि रचते हैं। यह मानसिक सृष्टि प्रत्येक मनुष्य के आकाशिक तेज में विद्यमान रहती है। इन उपचित्रों को दिव्य मानसिक चित्र (Astro-mental-image) कहते हैं। ये चित्र गगन-मण्डल के देवगणों की निवास-भूमि बनते हैं, और जब तक इन चित्रों का पूर्ण रीति से नाश नहीं हो जाता, तब तक वे उन देवगणों को अपना भाव भी प्रदान करते हैं। इन चित्रों का मानसिक अंश के साथ संयोग होने के कारण गगन-मण्डल के प्राणियों (देवगणों) में अहंकृत भाव भी उत्पन्न होता है। इन्हीं उद्योगवाली सत्ताओं को प्राणी कहते हैं, जिनका वर्णन इस पुस्तक की भूमिका में वर्णन हो चुका है। यह चित्र गगन-मण्डल में भ्रमण करते रहते हैं और अपने उत्पत्ति-कर्त्ता के साथ लोह-चुम्बकवत् सम्बन्ध रखते हैं। वह अपने जन्म-दाता मानसिक-चित्रों पर भी अपना भाव डालते हैं। वरं अन्यान्य चित्रों पर भी अपना प्रतिभाव डालकर उन्हें बदल देते हैं। प्रत्येक चित्र की उद्योगी अवस्था का समय उसकी

दशा के अनुकूल दीर्घ अथवा अल्प होता है। इन उपचित्रों के प्रशान्त अथवा नष्ट हो जाने से उनके जन्मदाता मानसिक चित्रों की कुछ हानि नहीं होती, क्योंकि मानसिक चित्र योग्य सामग्री के प्राप्त होने पर प्रबोधक शक्ति के पुनरावेग से अपनी प्रतिमा गगन-मण्डल में उत्पन्न कर लेते हैं जैसे कि एक शब्द के दुहराने से उसका चित्र पुनः उत्पन्न हो जाता है।

मानसिक चित्रों का स्पन्द (कंप) केवल गगनमण्डल की अधः प्रकृति में ही गमन नहीं करता, वरञ्च इसका भाव ऊर्द्ध लोकों में भी पहुँचता है, और जिस प्रकार यह स्पन्द घन प्रकृति में एक स्थूलाकार उत्पन्न करता है, वैसे ही ऊर्द्ध लोकों में आकाश के अन्दर एक ऐसा सूक्ष्म रूप सृजता है, जो हमारे सूक्ष्म इन्द्रियों के गोचर नहीं होता। आकाश सब चित्रों का भण्डार है, मानो यह सब सङ्कल्पों का निवासस्थान है, जो सृष्टि की उत्पत्ति के लिये ब्रह्माजी के मन से उपजते हैं। इस भण्डार में केवल ब्रह्माजी के संकल्प ही नहीं उत्पन्न होते, किंतु सृष्टि के उन स्पन्दों का फल भी इसमें संग्रह होता है, जो बुद्धिमानों के संकल्पों, कामिक पुरुषों की वासनाओं और प्रत्येक लोक की अनंत रचनाओं से होता है। ब्रह्माण्ड की सब रचना के संस्कार आकाश में सञ्चित रहते हैं। यद्यपि वह अति सूक्ष्म होने के कारण हमारे इन्द्रियों के गोचर नहीं होते, परन्तु योगी जनों को वह ठीक इसी प्रकार देखने में आते हैं, जैसे कि

स्थूल पदार्थ मनुष्य मात्र के दृष्टिगोचर होते हैं। आकाशिक चित्र कभी नष्ट नहीं होते, यह सदैव आकाश में गुप्त रीति से स्थित्ति रहते हैं। इसी कारण इन चित्रों का नाम शास्त्रों में चित्रगुप्त प्रतिपादन किया है। और यही धर्मराज के लिपिकारों का बही-खाता है, धर्म्मराज के लिपिकार सब प्राणियों के कर्म्मों को आकाश रूपी बही में चित्र द्वारा लिखते हैं। जिन पुरुषों का दिव्य चक्षु अर्थात् शिवनेत्र खुल जाता है, वही इस बही-खाते को भली भाँति पढ़ सकते हैं। योगी जन संयम द्वारा आकाशिक चित्रों को दिव्य प्रकृति में प्रतिबिंबित कर दृश्यमान कर सकते हैं, जैसे कि तमाशा करनेवाले मैजिक लालटैन (Magic Lantern) द्वारा सचित्र शीशे की पट्टियों के चित्रों को भीगे हुये वस्त्र पर प्रतिबिम्बित कर दिखलाते हैं।

संसार के सब वृत्तांत विस्तारपूर्वक आकाश के बही-खाते में अङ्कित रहते हैं। योगी जन जब चाहें इस खाते के पत्रों को खोल प्राचीन समय की रचनाओं के चित्रों को अपनी दृष्टि के सामने प्रत्यक्ष कर सकते हैं। यह चित्र दीवार के चित्रों के समान चेष्टा-शून्य नहीं होते, वरञ्च नाटक के पात्रों के समान चेष्टावान् होते हैं। यह चेष्टा ठीक उसी प्रकार की देखने में आती है, जैसे पूर्व काल की घटना में हुई थी।

गत संक्षिप्त वर्णन को भली भाँति विचारने से पाठकों को कर्म्मों की गति कुछ कुछ प्रतीत होने लगेगी, अर्थात् यह समझ

में आने लग जावेगा कि कर्म मनुष्य से किस तरह नवीन कार्य्य कराता है। मानसिक चित्र मनस् से उत्पन्न होकर उसके साथ युक्त रहता है और आकाश में अंकित हो जाता है। फिर इससे दिव्य मानसिक चित्र अथवा प्राण प्रतिष्ठित संकल्प-रूप उपज कर गगन-मण्डल में भ्रमण करता है, और अनन्त परिणामों (Effects) को रचता है। यह सब परिणाम उस दिव्य मानसिक चित्र के लक्षणों से संयुक्त होते हैं, और इसी लिये यह जाना जा सकता है कि अमुक परिणाम कौन से दिव्य मानसिक चित्र से उपजा है। और दिव्य मानसिक चित्र के द्वारा उसका खोज मानसिक चित्र तक निकाला जा सकता है। जिस प्रकार मकड़ी अपना जाला अपनी ही प्रकृति से बनाती है, उसी प्रकार संकल्प-रूप भी इन परिणामों को अपनी ही प्रकृति से निर्माण करता है। इसी वास्ते परिणामों के रंगों का सूक्ष्म भेद देखकर संकल्प-रूप पहचाना जा सकता है। चाहे कोई परिणाम (Effect) कितने ही संकल्पों के संयोग से क्यों न बना हो, फिर भी प्रत्येक संकल्प का पता लगाना सम्भव है और यह भी जान पड़ता है कि संकल्प मन के कैसे भाव से उत्पन्न हुआ है। ऐसी दशा में हम अपनी क्षुद्र सांसारिक बुद्धि से यह समझ सकते हैं कि यमराज के दूतों को कैसे प्रत्येक मनुष्य के भिन्न भिन्न कर्मों का पता किंचिन्मात्र दृष्टि देने से लग जाता है। उनको प्रत्येक मनुष्य के ऊपर, उसके उत्पन्न किये हुए मानसिक

चित्रों का पूर्ण भार (Responsibility) और मानसिक चित्रों के समस्त परिणामों (Effect) का किंचित् भार (Partial Responsibility) तत्काल जान पड़ता है। परिणामों के किंचित् भार की न्यूनाधिकता, उनके उत्पन्न करने वाले संकल्पों के स्वभाव पर निर्भर है। इसी से समझ सकते हैं कि कर्म्म पाश के बल के निर्णय में प्रेरक हेतु को क्यों प्रधान और उनकी क्रिया शक्ति को क्यों अप्रधान माना जाता है, और कर्म्म क्योंकर अपनी प्रकृति के अनुसार भिन्न भिन्न क्रिया उत्पन्न करता है और अपने परिणामों के लगातार होने के कारण सब मण्डलों को संबन्धित रखता है।

संसार में किसी को जन्म से सुखी और किसी को दुःखी, पापी को फलते फूलते और धर्म्मी को निरपराध दण्ड पाते देख कर प्रायः मन में ईश्वर के न्यायकारी होने में संदेह उठा करता है। यदि कर्म्मों की उक्त रीति को अच्छी तरह समझा जावे तो यह सन्देह निवृत्त हो जावेगा। कौन जानता है कि अमुक पापी वा धार्म्मिक जन ने कैसे कैसे कर्म्म पूर्व जन्मों में किये हुए हैं, और इस जन्म में किस किस प्रकार के कर्म्म काया, वाणी और मन द्वारा किये हैं। हम तो केवल मनुष्यों के थोड़े से साधारण कायक और वाचक कर्म्मों को ही देख कर अपनी अपनी सम्मति लगा दिया करते हैं।

अब हम पाठकों की सुगमता के लिये चित्त की उद्योगिता

के तीनों परिणामों को नकशे में दिखलाते हैं, जिनसे कर्म्मों का मूल स्वरूप संक्षिप्त रीति से समझ में आ जावें:—

मण्डल	प्रकृति	परिणाम
अध्यात्म	आकाश	आकाशिक चित्र जिनसे चित्रगुप्त का बही खाता बना हुआ होता है।
गगन	(ऊर्द्ध) अतिसूक्ष्म	मानसिक चित्र जो मनुष्य की चेतना में रहता है।
	(अधः) सूक्ष्म	दिव्य मानसिक चित्र जिनकी उपयोगिता गगन-मण्डल में होती है।

इन्हीं परिणामों के अनुसार दूसरे जन्म में मनुष्य का स्वभाव, उसकी योग्यता, पुरुषार्थ और दशा आदि बनते हैं। और इनका भोग नियम द्वारा होता है।

कर्म्मों की बनावट का सविस्तार वर्णन

कर्म्मों को बनाने वाली सत्ता मनुष्य का अहंकृत भाव अर्थात् मनस् (Ego) है; यह एक सदैव उन्नति करने वाली सत्ता है। सृष्टि क्रम के चक्र के साथ साथ गमनागमन करते

हुये यह सत्ता विचार शक्ति और विज्ञान को प्रकाश करने की सामर्थ्य प्राप्त करती रहती है। जिज्ञासु जनों को सदैव स्मरण रखना चाहिये कि उत्तम मनस् और अधम मनस् वास्तव में एक ही हैं, परन्तु सुगमता के लिये, उनकी भिन्न भिन्न कार्रवाई की अपेक्षा से उनमें भेद किया जाता है, किन्तु स्वरूप की अपेक्षा से नहीं। उत्तम मनस् मनस् का वह रूप है जो पूर्व जन्मों में प्राप्त किये ज्ञान सहित ऊर्द्ध लोकों में काम करता है। अधम मनस् मनस् का वह रूप है, जो दिव्य प्रकृति का वस्त्र पहिर, काम में स्थित हो, गगन-मण्डल में कामिक क्रिया करता है। दिव्य प्रकृति से आच्छादित होने के कारण, उसकी दृष्टि न्यून हो जाती है, जैसे कुहर में मनुष्य की दृष्टि न्यून हो जाती है, सब पदार्थ धुँधले से प्रतीत होते हैं, और दूर की वस्तु तो उसे दिखलाई ही नहीं देती। उत्तम मनस् के पूर्ण ज्ञान का एक अंश, अधम मनस् में प्रकाश करता है। प्रायः मनुष्यों में तो यह अंशमात्र ज्ञान भी वर्त्तमान जन्म की मोटी मोटी बातों का ही होता है। पूर्व जन्म के वृत्तान्त का ज्ञान तो, इस समय में योगी जनों के सिवा किसी को नहीं होता, व्यवहार में प्रायः मनुष्यों को अधम मनस् ही जीवात्मा भासता है, इसको तत्ववेत्ता लोग मनुष्य का अधम अहंकार कहते हैं। सामान्य पुरुषों को अभ्यान्तरिक प्रेरणा (Voice of Conscience) उत्तम मनस् की क्रिया से होती है। बहुधा भ्रम से इसी प्रेरणा को ऐश्वरीय प्रेरणा वा आकाशवाणी

भी कहते हैं। एक प्रकार से तो यह कहना आयोग्य नहीं है, क्योंकि जिन पुरुषों को आत्मज्ञान प्राप्त नहीं होता, उनको उत्तम मनस् की प्रेरणा का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। इस प्रेरणा का जो आभास दिव्य प्रकृति (astral matter) में पड़ता है, और जो अधम मनस् की चपलता से बहुत कुछ बदल जाता है, वही साधारण पुरुषों को प्रतीत होता है, इससे अधिक और कुछ उनको जान नहीं पड़ता। इसलिये यदि वह इस प्रेरणा को माननीय और ऐश्वरीय प्रेरणा समझे तो कुछ आश्चर्य नहीं। यह निश्चय रहे कि अधम मनस् उत्तम मनस् से कुछ भिन्न नहीं है, जिस प्रकार जल की तरङ्गें जल से भिन्न नहीं और सूर्य्य की किरणें सूर्य्य से भिन्न नहीं, उसी प्रकार अधम मनस् उत्तम मनस् से भिन्न नहीं है। और जिस प्रकार सूर्य्य अपना प्रकाश आकाश में डालता है, और उसकी किरणें पृथ्वी में प्रवेश होकर नाना प्रकार की वनस्पतियों को उगाती हैं, और अन्यान्य रचनाओं को करती हैं, उसी प्रकार उत्तम मनस् तो ऊर्द्ध लोक में काम करता है, और उसकी किरण (अधम-मनस्) अधो लोक में नाना प्रकार की चेष्टा और रचना करती है। यदि कोई जिज्ञासु इनमें क्रिया भेद के सिवा और किसी प्रकार का भेद समझेगा तो वह ऐसे भ्रमजाल में फँसेगा कि जिसमें से निकलना महा कठिन होगा।

मनस् सदैव उन्नति कारक और बढ़नेवाली सत्ता है, इसकी

रश्मि को हाथ की उपमा भी दिया करते हैं। जिस प्रकार किसी वस्तु के पकड़ने के लिये जल में हाथ डुबोया जाता है और पदार्थ को पकड़ने के अनंतर जल में से निकाल लिया जाता है, ठीक उसी प्रकार उत्तम मनस् की एक रश्मि अधोलोक में कार्य्य करने और तजुरबा (अनुभव) प्राप्त करने के लिये, संसार सागर में भेजी जाती है, और यथोचित अभिज्ञता की प्राप्ति के अनन्तर संकुचित कर ली जाती है। अब यदि रश्मि की क्रिया उत्तम और श्रेष्ठ होगी, तो मनस् की उन्नति भी अच्छी होगी। इसलिये रश्मि का गौरव उस ज्ञान से मापा जाता है, जो उसने अधः लोक में अपनी क्रिया से प्राप्त किया है। यह रश्मि एक ऐसे सेवक के समान है, जो क्षेत्र में जाकर अपने स्वामी के लिये काम करता है, और गरमी, सरदी, धूप, छाँव वा मेंह बूंदी का कुछ विचार नहीं करता, और सायंकाल के समय अपने घर आ जाता है। परन्तु इतना भेद अवश्य है कि वहाँ तो स्वामी सेवक भिन्न भिन्न हैं और यहाँ सेवक अपना स्वामी आप ही है। उसके परिश्रम का फल उसी के भण्डार में संचय होता रहता है, और सामग्री बढ़ती रहती है। प्रत्येक रश्मि (अहंकृत जीव) अविनाशी और नित्य सूत्रात्मा (उत्तम मनस्) का प्रतिनिधि (Representative) है, और अधोलोक में अपने स्वामी के स्थान कार्य्य करती है; और उन्नति करते करते जिस पद की स्वसंवेदना (Self-consciousness)

इसके स्वामी ने प्राप्त की है, उसी के अनुसार उसकी शक्ति का विस्तार भी न्यूनाधिक होता है। इस बात को भली भाँति स्मरण रखना चाहिये, क्योंकि इसको भूल जाने से प्रायः जिज्ञासुओं के चित्त में ऐसा संशय उठा करता है कि एक जन्म की कार्य्यसाधक रश्मि वा अहंकृत जीव को, गत जन्म में अपने स्वामी की दूसरी कार्य्यसाधक रश्मि के किये हुए कर्म्मों के फल क्यों भोगने चाहिये, क्योंकि प्रत्येक जन्म की रश्मि (अहंकृत-जीव) भिन्न भिन्न होती है। इस प्रकार तो ईश्वर के न्याय में भी सन्देह उत्पन्न होता है। इसलिये हर एक जन्म के अहंकृत जीव को अपने ही किये कर्म्मों का फल भोगना चाहिये। इस बात को निश्चय पूर्वक जान लेना चाहिये कि जो कर्म्मों का कर्त्ता है, वही उसका भोक्ता भी है। जो खेती को बीजता है वही काटता है; चाहे उसने उन कपड़ों को, जिन्हें पहिर कर उसने खेती बोई थी, फटने के पश्चात् त्याग कर, नये वस्त्र भी क्यों न धारण कर लिये हों। इसी प्रकार उत्तम मनस् भी अपने बीजने के समय के चोले रूप वस्त्रों को जीर्ण हो जाने से त्याग कर, २ य, जन्म रूप नये वस्त्रों को धारण कर कर्म्म रूप खेती काटता है। प्रत्येक जन्म का अहंकृत भाव देह के समान है और सूत्रात्मा देही के तुल्य है। देहरूप वस्त्र के पलटने से देही नहीं बदल जाता। यदि उत्तम मनस् (बोनेवाला) एक वस्त्र धारण कर (अर्थात् एक जन्म में) थोड़े से अथवा निकृष्ट अन्न

बोएगा, तो २ य, जन्म में नये वस्त्र धारण कर वैसी ही थोड़ी अथवा बुरी खेती काटेगा। इसलिये उक्त संशय केवल व्यर्थ और भ्रम मात्र ही है।

मानसिक उन्नति की आदि अवस्था में ज्ञान-वृद्धि अति मंद होती है, क्योंकि कामाशक्ति के कारण मनस् संसार के रमणीय पदार्थों से मोह लिया जाता है। इस अवस्था में उससे उपजे हुए मानसिक चित्र प्राय: कामिक (Passional) जाति के होते हैं, और इसी लिये काम मानसिक चित्र (Astro-mental images) दृढ़ और बली होने के स्थान, प्रमाथी (violent) और क्षणभंगुर होते हैं। मानसिक चित्रों की बनावट में मानसिक अंश जितना अधिक होगा, दिव्य मानसिक चित्र उतने ही दृढ़ाकार और बली होंगे। दृढ़ और लगातार चिन्तन से मानसिक चित्रों के आकार स्पष्ट होते हैं, और उनसे उपजे हुए दिव्य मानसिक चित्र भी बली और चिरस्थायी होते हैं। जिन पुरुषों के चिन्तन से ऐसे चित्र उत्पन्न होते हैं, उनके जीवन का एक विशेष उद्देश्य वा लक्ष्य हुआ करता है। ऐसे पुरुषों का प्रत्येक कार्य उसी उद्देश्य की प्राप्ति का एक साधन हुआ करता है। उनका चित्त स्वयमेव ही अपने लक्ष्य की ओर दौड़ा करता है, और उसके चिन्तन में आनन्द अनुभव किया करता है। ऐसे चिन्तन से महाबली मानसिक चित्र उपजते हैं, और वही चिन्तक पुरुष की उद्योगिता और अन्य क्रियाओं को बहुत कुछ सहायता प्रदान करते हैं।

अब हमें यह विचारना है कि मानसिक चित्रों द्वारा कर्म्म-पाश किस विधि बनते हैं। मनुष्य एक जीवन भर में मानसिक चित्रों के अनेक समूह उत्पन्न करता है। इनमें से कई समूह तो बली और स्पष्टाकार होते हैं और पुनश्चिन्तन से निरन्तर पुष्टि पाते रहते हैं, कई एक निर्बल, परिच्छिन्न (vague) और क्षण-भंगुर होते हैं। मनस् से उपजते ही यह नष्ट हो जाते हैं, और चित्त-भूमि में नहीं ठहरते। मृत्यु के समय यह समूह मनुष्य के सामने प्रत्यक्ष रूप से आते हैं। यह समूह विविध प्रकार के होते हैं:--इनमें से कोई तो शांति और मुमुक्षत्व भावना से उपजे हुए होते हैं; यह समूह भक्ति, परोपकार, ज्ञान प्राप्ति की इच्छा, धर्मानुकूल वर्त्ताव रखने, और परमार्थ के निमित्त जीवन व्यतीत करने के संकल्पों से बना हुआ होता है। कई समूह विचार मात्र से उत्पन्न होते हैं, मानो गूढ़ अध्ययन और मनन का परिणाम होते हैं। कई समूह पाशव वृत्ति और रागादि विकारों से उपजे हुए होते हैं। इन समूहों के कई संकल्पों में तो साधारण प्रेम और दया अधिक होती है, और कई में काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहङ्कार आदि। कुछ समूह क्षुधा, तृषा, निद्रा आदि शारीरिक विकारों के कारण उपजे हुए होते हैं। यह समूह अत्याहार (gluttony) उनमाद (drunkenness) और विषय भोग (sensuality) के संकल्पों से बना हुआ होता है। प्रत्येक मनुष्य की चेतना उसके विचारों

के अनुसार पूर्वोक्त मानसिक चित्रों के समूहों से परिपूरित रहती है। कोई संकल्प, चाहे उस पर क्षणमात्र भी चिन्तन क्यों न किया हो, विनाश को प्राप्त नहीं होता। जिस संकल्प को मनुष्य एक बार विचार लेता है वह उसकी चेतना में सदैव काल के लिये अङ्कित (impressed) हो जाता है। काम मानसिक चित्र तो निस्सन्देह अपनी आयु व्यतीत हो जाने पर विनाश को प्राप्त हो जाते हैं, परन्तु मानसिक चित्र कभी नष्ट नहीं होते, वरंच मृत्यु के पीछे जीव अपने चित्रों के समस्त समूहों को अपने साथ गगनमण्डल वा काम लोक में ले जाता है।

काम लोक कई उपस्थानों में विभक्त है। मृत्यु के पश्चात् जब जीवात्मा काम युक्त उपाधि अर्थात् काम-रूप धारण करके इस लोक में प्रवेश करता है, तो काम मनस् की पाशव बृत्ति से उपजे हुए चित्र गगनमंडल के सबसे निचले उपस्थान में उद्योगित होते हैं। स्थूल बुद्धिवाले पुरुष तो इन चित्रों में मग्न हो उनकी प्रेरणा के अनुसार क्रिया करने लगते हैं और आगामी जन्मों में वैसी क्रियायें करने के संस्कारों को दृढ़ करते हैं। जिस पुरुष ने कामिक विषयों पर चिन्तन करके, पाशव संकल्पों को बहुत एकत्र कर लिया है, वह भोग तृष्णा की तृप्ति के हेतु सांसारिक विषयों की ओर केवल खिंच कर ही न जावेगा, किंतु यह अपने मन में उन्हीं भोग क्रियाओं को बारम्बार दुहरावेगा, और इस प्रकार आगामी जन्म में वैसे ही कर्म्मों

के करने का स्वभाव दृढ़ कर लेगा। काम लोक के अन्य उपस्थानों में भी उनके सम्बन्धित समूहों की ऐसी ही दशा होती है। अब ज्यों ज्यों जीवात्मा निचले उपस्थानों में से निकल, ऊपर के उपस्थानों में गमन करता जाता है, त्यों त्यों ही घन प्रकृति के बने हुए पाशव संकल्पों के चित्र प्रकृतिहीन हो, उसकी चेतना में प्रसुप्त अवस्था (Latent) धारण करते जाते हैं। यह स्मरण रहे कि एक उपस्थान की प्रकृति दूसरे उपस्थान में नहीं जा सकती; इसी लिये ज्यों ज्यों सूक्ष्म अवस्था को जीव प्राप्त होता जाता है, त्यों त्यों ही वह स्थूल और घन प्रकृति के कोशों को त्यागता जाता है। और यह त्यक्त कोश धीमे धीमे परमाणुओं की वियोगिता के कारण नाश हो जाते हैं। और जब जीव क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्म कोश भी त्याग देता है, तो फिर वह गगनमण्डल से निकल स्वर्गलोक में प्रवेश कर जाता है, और सूक्ष्म अवस्था की प्राप्ति के कारण पाशव संकल्पों के चित्र द्रव्य-हीन हो जाते हैं, इसी लिये जीव के साथ स्वर्गलोक में जाकर उद्योगित नहीं रहते। यह द्रव्य-चित्र केवल चिह्न मात्र हीं रह जाते हैं, इन्हीं को योगिनी मैडम ब्लैवटस्की प्रकृति शून्य आकार (Privations of matter) की संज्ञा दिया करती थीं। यह चिह्न-मात्र चित्र प्रकृति से भिन्न होकर भी मनुष्य की चेतना में रहते हैं, और जब जीव संसार में जन्म लेने के अर्थ स्वर्ग से पीछे लौटता है, तो यह चित्र अपने अपने

स्वभावानुसार गगनमण्डल में से द्रव्य को अपनी ओर आकर्षित कर, दृश्यमान होते हैं, और उस जीव के सांसारिक जीवन में कामना, तृष्णा और रागादि रूपों में प्रकट होते हैं। यह क्रिया ठीक उसी प्रकार होती है, जैसे बीज पृथिवी में से अपनी अपनी जाति के द्रव्य लेकर फल फूलों को उत्पन्न करते हैं।

इस स्थान में यह जतला देना अनुचित न होगा कि मृत्यु के अनन्तर गगनमण्डल में पहुँच कर जीव को पहले पहल अपने कई मानसिक चित्रों से कष्ट होता है। सांसारिक जीवन में उस जीव के निज चित्त की विकल्प और विपर्य्य बृत्तियों से उपजे हुए संस्कार भयानक रूप धारण कर, उसके सन्मुख हो, उसे बड़ा दुःख देते हैं। वास्तव में तो इन भयानक चित्रों की सत्ता विश्व में तो कुछ नहीं होती, किन्तु भयानक और रोचक वचनों के सुनने और उनके अनुसार चिन्तन करने से उनके संस्कार जीव के चित्त में पड़ जाते हैं। गगनमण्डल में यही संस्कार सूक्ष्म प्रकृति के वस्त्र धारण कर जीव को भय देने लगते हैं।

कामना और तृष्णा से उपजे हुए समस्त मानसिक चित्रों की वही गति होती है, जो पहले लिखी जा चुकी है। इनका पुनः प्रकाश जीव के भोगने के निमित्त द्वितीय जन्म में फिर होता है।

जिस समय जीव के कोष कामलोक में प्रथक् प्रथक् हो जाते

हैं, तब लिपिकार अर्थात् ब्रह्माण्ड में कर्मों की रीति को सुनियमित रखनेवाले देवता, प्रत्येक जीव की कर्त्तव्यता को पूरा पूरा तोल लेते हैं। उसी तोल के अनुसार वे जीव को दूसरे जन्म के लिये लिङ्ग शरीर का ढाँचा तैयार करके देते हैं।

अधः प्रकृति से निकल कर जीव देवचान वा स्वर्गलोक में पधारता है, और इस स्थान में उसके निवास का काल, उसके अति शुद्ध मानसिक चित्रों की न्यूनाधिकता के अनुसार अल्प वा दीर्घ होता है। इस स्थान में जीव को अपने पुराने उच्च उच्च साधन सबके सब फिर प्राप्त होते हैं, चाहे उसका निवास काल बहुत थोड़ा भी क्यों न हो। इन्हीं साधनों को साध कर जीव अगले जन्म के लिये नई नई शक्तियाँ प्राप्त करता है।

देवचानिक जीवन परिपाक का समय होता है। इस समय में सांसारिक जीवन के सब अनुभव परिपक्क होकर मनस् का अंश बनते हैं, और इसी क्रिया से मनस् की उन्नति होती है। यह उन्नति चित्रों के विशेष विशेष रूपों और उनकी संख्या के अनुसार होती है। जीव एक जाति के मानसिक चित्रों को संग्रह कर उनमें से एक सार निकालता है और फिर ध्यान द्वारा आंतरीय इन्द्रिय बना उस में उस सार को शक्ति रूप से स्थापित करता है। उदाहरण की रीति से कल्पना करो कि एक मनुष्य ने गूढ़ और सूक्ष्म विषयों के समझने का यत्न करने और ज्ञान प्राप्ति की अभिलाषा बारम्बार करने से बहुत से

मानसिक चित्र उत्पन्न किये हैं । स्थूल देह त्यागने के समय तो उसकी मानसिक शक्ति सामान्य अवस्था की होती है । देवचान में इन सब मानसिक चित्रों को मथन कर उनमें से शक्ति निकाल, पहले से अधिक सामर्थ्यवाली मानसिक कला ले वह संसार में जन्म लेता है । नये जीवन में उसकी विचार शक्ति पहले से अधिक होगी, और वह ऐसे ऐसे कार्य्यों को सिद्ध कर सकेगा, जो पहले जन्म में उसकी सामर्थ्य से बाहर थे । मानसिक चित्रों में से इस प्रकार सार निकालने का नाम ही चित्रों का परिपाक और परिणाम कहाता है । जब वह चित्र सार रूप बन मनस् का अंश बन जाते है, तो उनकी निज रूप सत्ता नष्ट हो जाती है । यदि फिर आगामी जन्म में जीव इन चित्रों को उनके यथार्थ रूप में देखना चाहे, तो उसे चित्रगुप्त का बहीखाता ढूँढ़ना पड़ेगा । क्योंकि इस बहीखाते में सब कर्म अंकित रहते हैं; अतः यदि एक मनुष्य अपनी मानसिक शक्ति को बहुत ही बढ़ाना चाहे, तो उसे उत्साह के साथ उनकी प्राप्ति की इच्छा करनी और उनकी प्राप्ति को निरन्तर दृष्टिगोचर रखना चाहिये । क्योंकि एक जन्म की इच्छा और अभिलाषा दूसरे जन्म में शक्ति रूप से प्रगट होती है, एक जन्म में किसी कार्य्य को संपूर्ण करने की इच्छा से दूसरे जन्म में उस कार्य्य को करने की सामर्थ्य मिलती है । परन्तु यह स्मरण रहे कि जिस प्रकार के साधन मनुष्य करेगा वैसी ही

सामर्थ्य उसे प्राप्त होगी, क्योंकि प्रकृति का यह बड़ा नियम है कि असत्य में से सत्य कभी उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि मनुष्य अभिलाषा और इच्छा के बीज बोकर अपनी शक्तियों को काम में न लावेगा, तो देवचान में उसकी खेती बहुत ही थोड़ी होगी।

पुनश्चिन्तन से उपजे हुए ऐसे मानसिक चित्रों से, जिनका प्रेरक हेतु न तो कोई उच्च उद्देश्य हो और न निज सामर्थ्य से बढ़कर कार्य्य करने की अभिलाषा ही हो, एक विकल्प-प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, मानो कि मस्तिष्क में ऐसी ऐसी प्रणालियाँ (Grooves) बन जाती हैं, जिनमें से मानसिक शक्ति फिर स्वयमेव सुगमता के साथ बिना प्रयत्न बहा करती है। इस कारण ही अति आवश्यक है कि चित्त को तुच्छ पदार्थों में कभी व्यर्थ भ्रमण न करने देना चाहिये। क्योंकि ऐसे भ्रमण से मलीन और क्षुद्र मानसिक चित्र बृथा उत्पन्न होते हैं, और चित्त में निवास करने लगते हैं। चित्त की चंचलता को रोकने का अभ्यास प्रत्येक जिज्ञासु को उचित है। प्रथम तो चित्त को तुच्छ पदार्थों में भ्रमण करने से रोके, क्योंकि भ्रमण द्वारा विषय संयोग से मलीन वृत्ति उत्पन्न होती है। २ य, चित्त में मलीन संकल्पों का आवेश न होने दें। ३ य, यदि आलस्य के कारण मलीन संकल्प चित्त में आ भी जावें, तो उनको तत्काल चित्त में से निकाल डालना चाहिये। उनको चित्त-भूमी में कभी निवास स्थान देना नहीं चाहिये। क्योंकि ऐसा

न करने से मानसिक चित्र दृढ़ाकार हो भविष्यत् में मानसिक शक्ति के प्रवाह के लिये प्रणालियाँ बना लेते हैं। इन्हीं के द्वारा फिर मानसिक शक्ति का व्यय नीचे के स्थलों में हुआ करता है। क्योंकि विश्व में यह बड़ा भारी नियम है, कि किसी शक्ति का प्रवाह उसी मार्ग में हुआ करता है, जिसमें रुकावट न्यून हो। यदि किसी अति उत्तम कार्य्य को करने की इच्छा वा अभिलाषा पूर्ण न होवे और इस अपूर्णता का कारण मनुष्य की असमर्थ्यता या अयोग्यता न हो, किन्तु यथोचित सामग्री और अवसर की अप्राप्ति अथवा हानिकारक विघ्नों की प्राप्ति हो, तो ऐसी दशा में उस इच्छा से जो मानसिक चित्र बना उनसे देवचानिक मंडल में मानसिक क्रियायें उपजेंगी। प्राणी के पुनर्जन्म लेने पर यह मानसिक क्रिया फिर कायक कर्म्म के रूप में प्रकट होती हैं। परोपकारी कार्य्यों के चित्रों से उपजी हुई मानसिक क्रिया प्राणी के चित्त में उन चित्रों को दृढ़ कर देती है। यह दृढाकार चित्र यथोचित सामग्री और अवसर के मिलते ही स्थूल क्रियाओं (Physical actions) में व्यतय हो जाते हैं। जब किसी चित्र की मानसिक क्रिया भली भाँति अनुभव कर ली जाती है तब उसकी स्थूल क्रिया का प्रकाश भी अटल हो जाता है। अशुद्ध वासनाओं से उपजे हुये चित्रों की भी यही गति होती है। यद्यपि यह चित्र प्राणी के साथ देवचान में तो नहीं जाते किन्तु गगन-मण्डल के उपस्थानों में ही रह जाते हैं और प्राणी के स्वर्ग से

लौटते समय उसमें अपना भाव प्रगट करते हैं। लोभ के पुनश्चिन्तन से उपजे हुये चित्रचोरी कर्म्म में व्यतय हो जाते हैं। कारण रूप कर्म्म सम्पूर्ण हो जाता है और फल (effect) रूप स्थूल क्रिया अटल हो जाती है। जब चेतना मानसिक चित्रों से भरती भरती ऐसी अवस्था को प्राप्त हो जावे कि केवल एक बार का चिन्तन मात्र उसे स्थूल क्रिया में पलटा दे सके। यह बात नहीं भूलनी चाहिये कि पुनराभ्यास से कार्य स्वाभाविक (automatic) हो जाता है। और यह नियम स्थूल मण्डल ही में नहीं, किंतु सर्व मंडलों में वर्तमान है। यदि गगन-मण्डल में कोई क्रिया बारम्बार दुहराई जावे तो वह स्वाभाविक हो जावेगी और अवसर पाकर स्वयमेव अपने आपको स्थूल रूप में प्रगट करेगी। कितनी एक बार पाप करने के पश्चात् यह कहा जाता है कि "हाँ, यह कर्म तो बिना सोचे ही हो गया, इसका तो मुझे ध्यान तक भी न था, यदि क्षण भर भी इसको विचार लेता तो ऐसा कर्म्म न करता;" यह कथन बहुत ठीक है। निस्संदेह विचारपूर्वक किसी सोचे समझे हुए हेतु से प्रेरित होकर उसने यह कर्म्म नहीं किया; कर्त्ता को तो उन संकल्पों का ज्ञान भी नहीं होता है, जो उस कर्म्म को करने के पूर्व उसके चित्त में आ चुके हों, और न उसको उन कारणों के क्रम का ही कुछ पता होता है, जिनका आवश्यक फल यह स्थूल कर्म्म है। इस प्रकार कर्त्ता के सचेत हुए बिना ही उसके मानसिक चित्र

स्वयमेव स्थूल रूप बन जाते हैं। यह स्थूल रूप आवश्यक और अटल है। यदि कोई कहे कि यह कर्म्म आवश्यक क्यों है, मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा से क्यों नहीं रोका जा सकता? तो इसका उत्तर यह है कि इच्छा की स्वतन्त्रता एक ही प्रकार के मानसिक चित्रों को बारम्बार बनाना स्वीकार करने में क्षीण (exhausted) हो गई है, और इसलिये स्थूल क्रिया नहीं रुक सकती। स्थूल उपाधि तो मन की अनुचारिणी है, उसे मानसिक प्रेरणा के अनुसार क्रियायें करनी पड़ती हैं। एक जन्म में किसी कार्य्य को हठपूर्वक करने से स्वभाव उत्पन्न होता है। किसी कार्य्य की अभिलाषा करनी क्या है, मानो प्रकृति से एक याचना करनी है, जिसका उत्तर वह कार्य्य की सम्पूर्णता निमित्त एक यथोचित अवसर अभिलाषी पुरुष को प्राप्त करा कर देती है।

स्मृति में एकत्र हुये मानसिक चित्र उन भुक्तियों के संस्कार होतें हैं, जिनको जीवात्मा अपने सांसारिक जीवन में सहन करता है, मानो कि यह उस पर वाह्य सृष्टि की क्रियाओं के ठीक ठीक चित्र होते हैं। इन चित्रों को भी जीवात्मा मथन करके उनसे सार निकाल लेता है, इन चित्रों पर निधिध्यासन और ध्यान करके वह सीखता है कि उनमें परस्पर संबन्ध क्या है और उनसे महत् तत्व (Universal Mind) की कार्रवाई में किस प्रकार का असर प्रगट होता है, किं बहुना, शान्तिपूर्वक उन चित्रों पर विचार करके वह शनैः शनैः सर्व उपदेश जो

उनसे सीखने योग्य होते हैं, सीख लेता है । प्रत्येक सुख से अन्त में दुःख की उत्पत्ति और दुःख से सुख की प्राप्ति देख कर पुरुष को यह ज्ञान होता है कि प्रकृति में ऐसे ऐसे नियम वर्त्तमान हैं, जिनको उलङ्घन नहीं किया जा सकता है, और इसलिये उनके अनुकूल ही आचरण रखना आवश्यक है । प्रायः देखने में आता है कि किसी कार्य्य में सिद्धि और किसी में असिद्धि होती है, कभी आशा पूर्ण होती है, और कभी भङ्ग, कभी कभी ऐसे ऐसे भय प्राप्त होते हैं, जो पीछे से निर्मूल और मिथ्या निकलते हैं, मनुष्य अपने आपको बड़ा बलवान् समझता है, परन्तु परीक्षा के समय उसका बल झूठा पड़ जाता है; मनुष्य समझता है कि मुझे अमुक वस्तु का पूर्ण ज्ञान है, परन्तु पीछे मालूम होता है कि वह ज्ञान तो सर्वथा मिथ्या ही था, युद्ध के समय देखने में हार प्रतीत होती है, किन्तु धैर्य्य और उत्साह रखने से अन्त में जीत हो जाती है, विजय के पश्चात् प्रमाद और असावधानी के कारण हार हो जाती है । इन सब बातों पर पुरुष विचार करता है, और निज रसायन के द्वारा इन सब मिश्रित भोगों को स्वर्णरूपी ज्ञान में बदल लेता है । और इसी वास्ते आगामी जन्म में पहले से अधिक ज्ञानवान् होकर संसार में आता है । और उसके आडम्बर के ज्ञानरूपी कसौटी के द्वारा परखता है । यहाँ भी मानसिक चित्र ज्ञान में व्यत्यय हो जाते हैं, और निज रूप में स्थित नहीं रहते । उनके पुराने रूपों को यदि देखने की इच्छा हो, तो कर्मों के बही खाते को देखना पड़ेगा ।

भुक्तियों के मानसिक चित्रों से और विशेष करके उन चित्रों से जो यह बतलाते हैं, कि धर्म्म को न जानने से क्योंकर कष्ट होता है, अन्तःकरण में पुण्य पाप विवेचनीय बुद्धि उत्पन्न होती है। जीव अनेक जन्मों में वासना के वश होकर रमणीय पदार्थों के पीछे बड़े वेग से भागता है और कष्ट सहता है। इन भुक्तियों से उसे यह शिक्षा मिलती है, कि धर्म्म के प्रतिकूल भोग भोगने से सदा दुखः ही प्राप्त होता है, और जब किसी आगामी जन्म में वासना फिर प्रबल होकर उसे किसी अयोग्य भोग की ओर प्रेरणा करके चलायमान करती है, तो झट उसमें पिछले अनुभवों की स्मृति अन्तः करण बनकर जाग उठती है, और उस भोग की निषेधिता का डंका बजाती है, और इन्द्रियों के वेग से दौड़ते हुये घोड़ों की बाग खैंच कर उन्हें ठहरा देती है। मानसिकोन्नति की वर्त्तमान दशा में अति मन्दमति वाले मनुष्यों के सिवाय अन्य सब पुरुषों को इतना तजुरबा तो हो चुका है, कि जिसके द्वारा उनको यह मालूम हो जावे, कि सामान्य रीति से धर्म्म क्या है, अधर्म्म क्या है, दैवी प्रकृति (Divine Nature) के अनुकूल और प्रतिकूल कौन कौन से आचरण हैं। परन्तु बहुत से गूढ़ और सूक्ष्म विषयों पर, (कि जिनका संबन्ध उन्नति की उस दशा से है, जो अब व्यतीत हो रही है, न कि उस दशा से जो भूतकाल में व्यतीत हो चुकी है) तजुरबा इतना थोड़ा सा है, कि उससे अभी तक अन्तः करण में विवेक शक्ति उत्पन्न

नहीं हुई है। इसी कारण ऐसे विषयों की मीमांसा में मनुष्य भूल ही करता है, चाहे वह उनको ठीक ठीक समझने और नियमानुसार उनका व्यवहार करने में कितना ही समाहित होकर यत्न क्यों न करे।

धर्मानुसार विचरने की इच्छा से ऊर्द्ध लोकों में तो दैवी प्रकृति (Divine Nature) के साथ उनकी ऐक्यता हो जाती है, किन्तु अधोलोक में धर्म की आज्ञापालन करने की विधि का अज्ञान ज्यों का त्यों बना रहेगा। आगामी जन्मों के लिये उसका यह अज्ञान उस कष्ट से निवृत्त होता है, जो उसे अवधिपूर्वक आज्ञा पालन करने के बदले में मिलता है, यह कष्ट उसे वह ज्ञान सिखलाता है जो उसे पहले न था। सन्तापवाले अनुभवों से अन्तः करण में विवेक शक्ति उत्पन्न होती है। इसके कारण भविष्यत में कष्ट की पुनरावृत्ति नहीं होती है। पुरुष को ऐश्वरीय शक्ति के पूरे पूरे ज्ञान होने से, सृष्टि के धर्मानुकूल ज्ञान सहित बर्ताव करने और उसकी उन्नति में सहकारी बनने का आनन्द प्राप्त होता है।

इस प्रकार कारण रूप मानसिक चित्रों की गति होती है, अभिलाषा और वासनाओं का परिणाम सामर्थ्य में पुनराचिन्तन का परिणाम स्वभाव (tendencies) में, किसी अनुष्ठान की चेष्टा का परिणाम क्रिया में, भुक्तियों का परिणाम ज्ञान में और सन्तापवाली भुक्तियों का परिणाम विवेक शक्ति में होता है।

दिव्य मानसिक चित्रों की गति का वर्णन आगे होगा।

कर्मों के लेखे का भुगतान।

जब जीवात्मा अपना देवचानिक जीवन व्यतीत कर चुकता है, और अपने पूर्व सांसारिक जीवन की भुक्तियों के सार को निज अंश बना चुकता है, तो फिर सांसारिक जीवन की अभिलाषा के वश होकर पृथ्वी की ओर खिंच कर आने लगता है। देवचानिक जीवन की अंतिम अवस्था अब उसके सामने होती है। इस अवस्था में जीवात्मा सांसारिक जीवन के अन्य अनुभवों के लिए नये वस्त्र धारण करता है। जीवन की यह अवस्था उसके जन्म द्वार में से गुज़रने पर बन्द हो जाती है।

देवचान की देहली को उलङ्घन करके और वहाँ की उद्योगिता के थोड़े बहुत फलों को अपने संग लेकर जीवात्मा उस मण्डल में प्रवेश करता है जिसे पुनर्जन्म का मण्डल कहते हैं। यदि जीवात्मा बाल्यावस्था में हो, तो उसको फलों की प्राप्ति अति अल्प होती है, क्योंकि मानसिक उन्नति की आदि अवस्था में वृद्धि इतनी न्यून होती है जिसको प्रायः पाठकों की बुद्धि नहीं माप सकती। इस अवस्था में एक एक जन्म एक एक दिन के समान होता है। और जैसे बालकों का बहुत समय किसी विशेष ज्ञान की प्राप्ति बिना ही व्यतीत होता है, वैसे जीवात्मा के भी जन्म जन्मान्तर इसी प्रकार व्यतीत होते हैं। प्रत्येक जन्म में किञ्चित् मात्र सा बीज बोया जाता है, और देवचान में उसका किंचित् मात्र सा फल पकता है। फिर ज्यों ज्यों शक्तियें

बढ़ती जाती हैं, त्यों त्यों बुद्धि भी तीव्र होती जाती है। जो जीवात्मा अनुभवों का बहुत सा भण्डार एकत्र कर देवचान में जाता है, वह उपरोक्त नियमों के अनुसार बड़ी बड़ी शक्तियें लेकर वहाँ से लौटता है। जीवात्मा उस उपाधि को धारण करके, जो कि मन्वन्तर तक स्थिर रहती है, देवचान से निकलता है, और अपने अहंकृत भाव वाले तेज से आच्छादित होता है, इस तेज की चमक, उसके रंगों का प्रकाश, उसका परिणाम और लक्षण उसकी निज उन्नति के अनुसार न्यून वा अधिक होते हैं। संसार की ओर लौटते समय जब जीवात्मा का मण्डल भुवर्लोक में आता है, तो वह अपनी कामोपाधि को पोषण करता है। और यह उसकी प्रारब्ध कर्म्मों की गति का प्रथम फल है। जो मानसिक चित्र उसने भूत काल में काम से प्रेरित होकर निर्माण किये थे, और जो देवचान में जाते समय उसकी चेतना में प्रशान्त हो गये थे, (और जिनको योगिनी मैडम ब्लैवट्सकी जी "प्रकृति शून्य चित्रों" की संज्ञा दिया करती थीं) अब फिर उसकी चेतना में प्रगट होते हैं और काम मण्डल की प्रकृति में से अपने स्वभावानुसार कामिक द्रव्य आकर्षित करके उस जीवात्मा की नवीन काम उपाधि में तृष्णायें और अधो वासनादि उत्पन्न करते हैं। जब यह कार्य्य पूरा हो चुकता है, जिसमें कभी थोड़ा और कभी घना समय लग जाता है, तो जीवात्मा अपने ही निर्माण किये हुये वस्त्र धारण

करके खड़ा होता है, और कर्म्म के अधिपतियों के हाथों से उस लिङ्ग शरीर को धारण करने के लिए तैयार होता है, जो उसके वास्ते उसीके एकत्र किये हुये द्रव्यों से बनाया गया है, और जिसके ढाँचे पर उसके निवास के लिये स्थूलोपाधि बनेगी। मनुष्य का अस्मि भाव (individuality) और अहंकृत भाव (personality) उसका अपना बनाया हुआ होता है। मानो जैसी उसने कल्पना की थी वैसा ही वह बन गया। उसके सर्व लक्षण और गुण उसके अपने चिन्तन के फल होते हैं। निस्संशय मनुष्य अपना उत्पादक आप ही है, और अपने भविष्यत् का पूरा पूरा आप ही उत्तरदाता है।

परन्तु प्रथम तो उसे स्थूल और लिङ्गदेह की प्राप्ति करनी पड़ती है, जो उसकी उद्योगिता को बहुत कुछ सीमाबद्ध करेगी। २य, उसे नियत अवस्था में रहना है और इसके वास्ते योग्य वहिर संबन्धों की प्राप्ति आवश्यक है। ३ य, उसे उस मार्ग पर चलना है, जिसको इसने निज कर्मानुसार बनाया है, ४ र्थ, उसे अपने कर्मानुसार सुख दुःख को भोगना है। इन सब बातों की प्राप्ति के अर्थ निज सामर्थ्य के अतिरिक्त किसी अन्य सहायता की आवश्यकता भी प्रतीत होती है। मनुष्य की शक्तियों के प्रकाश के वास्ते इन सब योग्य संबंधों की उपलब्धि क्योंकर हो सकती है।

इस विषय में अब हम ऐसी भूमिका तक पहुँच गये हैं

जिसका यथार्थ वर्णन करना अति कठिन है। क्योंकि यह भूमिका उन महात्माओं और मुनियों की है, जिनके लक्षण हमारी सीमाबद्ध इन्द्रियों के आगोचर हैं। उनकी सत्ता और उद्योगिता का पता तो लगता है परन्तु उनकी चेतना का बोध हमारी शक्ति से बाहर है, उनकी अपेक्षा हमारी वही दशा है, जो हमारी अपेक्षा कृम्यादि की दशा होती है। कृमि हमारे बाबत इतना तो जानते हैं कि हम सत्ता रूप हैं, परन्तु उसे हमारी चेतना की कार्रवाई का किञ्चित् मात्र भी बोध नहीं होता है। इन महात्माओं को लिपिकार और दिक्पाल कहते हैं।

श्रीमती योगिनी मैडम ब्लैवट्सकी अपने ग्रंथ गुप्त सिद्धान्त (Secret Doctrine) के चौथे श्लोक की टीका नं० ६, में लिपिकारों का वर्णन करती हैं। वहाँ लिखा है कि "लिपिकार जगत के देवगण होते हैं। इनका सम्बन्ध सृष्टि के उस अति गुप्त विभाग के साथ है, जो यहाँ प्रगट नहीं किया जा सकता। बड़े से बड़े सिद्ध पुरुष भी इन देवगणों के तीनों विभागों को पूरा पूरा जानते हैं या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये ग्रन्थकर्त्ता तैयार नहीं हैं; वरं उनकी सम्मति का झुकाव इस पक्ष में है कि महा सिद्धों को भी पूरा पूरा इनका ज्ञान नहीं होता है। इस विषय में केवल एक बात विज्ञात है कि लिपिकाओं का सम्बन्ध कर्म्मों के बही खाते से है"।

यह देवगण उस आकाशिक खाते को रखते हैं, जो ऊपर

वर्णन किये हुये चित्रों से परिपूरित रहता है। इनका सम्बन्ध प्रत्येक मनुष्य के प्रारब्ध और प्रत्येक बालक के जन्म से होता है।

लिपिकार लिङ्ग शरीर का ढाँचा चार दिक्पालों को देते हैं। इस ढाँचे के नमूने पर ऐसा स्थूल देह बनाया जाता है कि जिसके द्वारा उसमें निवास करने वाले जीवात्मा की मानसिक और कामिक शक्तियें प्रकट हो सकें।

चतुष्क महाराजाओं वा दिक्पालों का वर्णन भी गुप्त सिद्धान्त में आया है। यह चारों ध्यानी चौहानों के महाराज होते हैं। यही चारों दिशाओं के अधिपति वा दिक्पाल कहलाते हैं। स्थूल लोक में यही मनुष्य जाति के रक्षक और कर्म्मों के विधान-कर्त्ता होते हैं।

लिपिकाओं से लिङ्ग शरीर के प्रकृतिशून्य ढाँचे को लेकर महाराजा उसमें प्रकृति निर्म्माण करने के अर्थ ऐसे ऐसे द्रव्यों को लेते हैं, जिनमें उन गुणों को प्रकाश करने की योग्यता होती है, जो उस ढाँचे के द्वारा प्रगट होने हैं। यह लिङ्ग शरीर प्राणी के लिये योग्य कामिक उपाधि होता है। यह उपाधि प्राणी को अपनी प्राप्त की हुई शक्तियों को प्रकाश करने की सामर्थ्य देती है और साथ ही उस पर ऐसे ऐसे बन्धन (Limitations) भी लगाती है जो गत जन्म में प्राप्त काल को वृथा खोने और अन्यान्य न्यूनताओं के कारण कर्म्मानुसार उस पर लगनी हैं। लिङ्ग शरीर के इस ढाँचे को चतुष्क महाराज ऐसे देश, जाति, कुटम्ब और भाईचारे में ले जाते हैं जहाँ प्राणी को अपने प्रारब्ध

कर्म्मों के भोग में योग्य अवसर (मौका) मिले। किसी एक जन्म में समस्त संचित कर्म्मों को नहीं भोगा जा सकता, न एक ऐसी उपाधि बनाई जा सकती है जिसके द्वारा वे सब शक्तियें प्रगट हो सकें, जो प्राणी ने धीरे धीरे अनादि भूतकाल में प्राप्त की हैं और न ऐसी परिस्थितियाँ (external surroundings) ही एकत्र की जा सकती हैं, जिनको प्राप्त करके प्राणी भूतकाल में बीजी हुई समस्त खेती को काट सके और अपने पिछले जन्मों के अन्यान्य सम्बन्धियों की तरफ अपनी कर्त्तव्यता और धर्म्म को पूरा कर सके। समस्त कर्म्मों के केवल उस भोग के वास्ते एक योग्य (suitable) लिंग शरीर बनाया जाता है, जिनके भोग का प्रबन्ध एक जीवन भर में संभव है। यह लिंग शरीर योग्य स्थान की ओर ले जाया जाता है, यह ऐसे स्थानों में ले जाया जाता है जहाँ प्राणी का सम्बन्ध उन प्राणियों में से चन्द एक के साथ हो सके, जो इसके साथ गत जन्मों में सम्बन्धित थे। और जिनका जन्म इस दुनिया में या तो हो चुका है, या इसके सामने होनेवाला है। उसके वास्ते देश ऐसा चुना जाता है जहाँ धार्मिक, सामाजिक और राज-सम्बन्धी व्यवहार इस प्रकार के हों कि उसको अपनी कर्त्तव्यता के पूरा करने में योग्य अवसर मिले। इसी प्रकार जाति भी ऐसी चुनी जाती है, जिसके लक्षण उस प्राणी के लक्षणों के सदृश हों। कुटुम्ब वा वंश उसके वास्ते ऐसा चुना जाता है जिसकी स्थूलोपाधि

परम्परा से ऐसे ऐसे स्थूल द्रव्यों से बनती चली आई है, उसके स्वभावानुसार व्यवहार करे। अर्थात् उसे ऐसे कुटंब में ले जाया जाता है, जिसकी स्थूलोपाधि में से मानसिक और कार्मिक स्वभाव को प्रगट करने के अर्थ यथोचित द्रव्य उसके लिंग शरीर में निर्माण किये जा सकें। प्राणी के अनन्त गुणों और सांसारिक विविध प्रकार के द्रव्यों में से ऐसों ऐसों का संयोग किया जाता है जो परस्पर सजातीय होते हैं। जन्म लेने वाले प्राणी के वास्ते एक ऐसी योग्य उपाधि का प्रबन्ध देश कालादि के संबंध सहित किया जा सकता है जिसके द्वारा वह अपने कर्म्मों के एक अंग को भोग सके। ऐसे प्रबन्ध के वास्ते आवश्यक ज्ञान और शक्ति चाहे हमको अपनी तुच्छ बुद्धि की अपेक्षा में कितनी ही अप्रमेय क्यों न प्रतीत हो तथापि इतना तो अवश्य प्रतीत होता है कि ऐसे ऐसे प्रबन्ध संभव है, और उनमें न्याय भी पूर्ण रीति से किया जा सकता है। निःसंशय ऐसा तो हो सकता है कि मनुष्य के प्रारब्ध कर्म्मों का जाल इतने सूत्रों से बना हुआ हो जिनको हम न गिन सकें, और जिनको निर्म्माण करके एक ऐसा अद्भुत आकार बनाने की आवश्यकता हो कि जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकें। ऐसे आकार की बनावट में जब कोई सूत्र अदृश होता है, तो वह नाश को प्राप्त नहीं होता है किन्तु वह केवल उस आकार के अधःपट (under surface) की ओर चला जाता है और बहुत शीघ्र ही फिर उत्तर पट की ओर आकर

दृश्य हो जाता है। इसी प्रकार जब कोई सूत्र अचानक आकार के किसी स्थान पर आकर दिखाई देने लगता है, तो वह केवल अन्तःपट से निकल कर उत्तर पट में आया है। चूँकि हम उस आकार के एक छोटे से टुकड़े को देखते हैं, इस वास्ते हमारी अल्प दर्शन शक्ति उसके सर्व लक्षणों को ग्रहण नहीं कर सकती।

पश्चिम देश के दूरदर्शी और ज्ञानवान् (Iamblichus) आयमबलिकस नामी महात्मा इस प्रकार लिखते हैं कि जो व्याख्या न्याय की हमको ठीक प्रतीत होती है, वह देवताओं को ठीक नहीं प्रतीत होती है। क्योंकि हम केवल अति क्षणिक दशा ही को दृष्टिगोचर करके वर्त्तमान पदार्थों और क्षणिक जीवन और उसके सम्बन्धों पर ध्यान देते हैं। किन्तु हमसे अधिक शक्ति वाले देवताओं को प्राणी का समस्त जीवन मालूम होता है, उनको प्राणी के पिछले जन्मों का सर्व वृत्तान्त मालूम होता है।

उन्नति के मार्ग पर चलने वाले पुरुष का ज्ञान ज्यों ज्यों बढ़ता जाता है त्यों त्यों उसका यह विश्वास दृढ़ होता जाता है कि संसार की सर्व क्रियायें पूर्णनीति और न्यायपूर्वक होती हैं, क्योंकि उन्नति करके जब पुरुष ऊर्द्ध लोकों में जा और वहाँ की लीला को दृष्टिगोचर कर, उस ज्ञान को जागृत अवस्था की उपाधि में लाने लगता है तब यह निश्चय अधिक होता जाता है और इससे आनन्द भी अधिक होता है कि सत नीति का व्यवहार इस प्रकार होता है कि उसमें कभी भूल वा चूक नहीं होती और

उसके अधिकर्त्ता गण ऐसी निरभ्रान्त अन्तर्दृष्टि और सुनिश्चित बल के साथ काम करते हैं कि जिसमें कभी किसी प्रकार का दोष नहीं आता और इसलिये संसार और उसमें मुक्ति के प्रयत्न करने वाले जीवों के साथ जो कुछ वर्तता है वह ठीक ठीक ही है। "सब ठीक है" इस प्रकार के शब्दों की गूँज अंधेरे में उन संरक्षक महात्माओं की तरफ से आती हुई सुनाई देती है जो हम संसारी जीवों को अन्धकार में पथ दर्साने के लिये दिव्य विज्ञान रूप दीपक दिखलाते हैं। इस नीति के व्यवहार करने के कुछ नियम हम समझ सकते हैं और इन नियमों के ज्ञान से हमें किसी घटना के कारणों को ढूँढ़ने और किसी कर्म के फलों को समझने में बहुत सहायता मिलती है।

इसके पूर्व यह वर्णन हो चुका है कि मनन द्वारा स्वभाव बनता है। अर्थात् जैसा चिंतन मनुष्य करता है, वैसा ही उसका स्वभाव हो जाता है। अब इस बात को समझना है कि कायक कर्म्म मनुष्य के लिये परिस्थिति (environment) पैदा किया करते हैं। कर्मों की गति में यह तथ्य अत्यावश्यक है और इसलिये इसका कुछ सविस्तार वर्णन करना लाभदायक होगा। मनुष्य अपनी क्रियाओं द्वारा स्थूल मण्डल में अपने पड़ोसियों पर असर डालता है, वह अपने चारों ओर सुख फैलाता है या दुःख, और इस रीति से मनुष्य जाति के सुख को घटाता है वा बढ़ाता है, सुख की इस अधिकता वा न्यूनता के कई प्रेरक हेतु

हो सकते हैं, शुभ अशुभ वा मिश्रित। एक मनुष्य करुणा से प्रेरित हो केवल इस नियत से कि नगर निवासियों को सुख पहुँचे,एक कर्म करता है। मानो कि वह कोई धर्मशाला वा शिवालय बनाता है। दूसरा मनुष्य ऐसा ही कर्म अपना बड़प्पन और धनाढ्यपन दिखलाने की नियत से करता है, और चाहता है कि लोगों की दृष्टि मेरी ओर आ जावे और मुझको बिरादरी में चौधरी माना जावे। तीसरा मनुष्य ऐसा ही कर्म मिश्रित नियत से, कि जिसमें कुछ स्वार्थता मिली हुई हो, करता है। इन तीनों मनुष्यों को नियतों का फल आगामी जन्मों में उनके स्वभाव में प्रगट होता है। इसलिये कोई तो जन्म ही से सुशील होता है, और कोई जन्म से कठोर, किन्तु स्थूल मण्डल में तीनों के कर्म एक समान हैं, उनसे नगर को एक ही समान लाभ होता है। नियतों के भेद से लोगों के सुख में कुछ भेद नहीं पड़ता। इसलिये एक समान सुख प्रदान करने के बदले में प्रकृति माता को अपने नियमानुसार उनका ऋण उतारने के लिये उन्हें एक समान सुख इस संसार (स्थूल मण्डल) में देना पड़ता है। इसी प्रयोजन से उनको ऐसे देश, काल और कुटुम्ब में जन्म मिलता है, जिनके सम्बन्ध से उनको सांसारिक सुख का भोग प्राप्त हो। ऐसे सम्बन्धों को प्राप्त होकर उनसे सतमार्ग में काम लेना और अपना आनन्द उठाना, बहुत कुछ उनके अपने स्वभाव पर निर्भर है। इसी लिये प्रति दिन देखने में आता है कि कोई धनाढ्य तो

आनन्द भोगता है और सत्मार्ग में अपना धन खुशी खुशी लगाता है और कई धनाढ्य ऐसे होते हैं कि उनका धन कुमार्ग में व्यर्थ लुटता है और उनको कुछ आनन्द भी नहीं होता है। उनकी प्रवृत्ति सत्मार्ग में कुछ नहीं होती है। कई धनाढ्य सुख-संपदा को प्राप्त होकर जन्म से लेकर किसी न किसी क्लेश से पीड़ित रहते हैं, किञ्चित् मात्र भी शान्ति उनको प्राप्त नहीं होती है। सत्य है कि जैसा बोवोगे वैसा ही काटोगे। कोई बीज निष्फल नहीं रहता। ईश्वर महा न्ययकारी है।

जो मनुष्य प्राप्य अवसर को यथाशक्ति पुर्ण रीति से परोपकार में व्यतीत करता है, उसे इसके बदले आगामी जन्म में परोपकार करने का विशेष समागम मिलता है। जो मनुष्य वर्तमान जीवन में अपने संसर्ग में आने वाले प्रत्येक मनुष्य की सहायता करता है, उसको आगामी जन्म में ऐसे सम्बन्धों में देह मिलता है जहाँ परोपकार और सेवा करने का समय उसे बहुत ही प्राप्त हो।

इसी प्रकार प्राप्य अवसर को व्यर्थ खोने का फल यह होता है, कि आगामी जन्म में मनुष्य की देह रोगी और विकारी होगी और उसके वाह्य सम्बन्ध क्लेश दायक होंगे। उसके प्राणमय कोश (Etheric double) के मस्तिष्क में कुछ न्यूनता रहेगी और इसी वास्ते स्थूल देह का मस्तिष्क भी विकारी बनेगा। देहधारी किसी साध्य के उपाय की चिन्ता और कल्पना तो कर लेगा,

परन्तु उसके अनुष्ठान में अपने आपको असमर्थ पावेगा, और किसी विषय का अनुभव तो कर लेगा, किन्तु उसका प्रत्यय मस्तिष्क में स्पष्टाकार न जमा सकेगा। वृथा खोये हुए अवसर व्यतय होकर निष्फलीभूत वासनाओं और इच्छाओं के रूप में प्रकट होते हैं। सहायता प्रदान करने की इच्छा तो होती है, किन्तु उसके कर्त्तव्य-साधन में विघ्न पड़ जाते हैं। और यह विघ्न उसकी अपनी शक्ति की न्यूनता वा अवसर की अप्राप्ति के कारण होते हैं।

इसी नियम के अनुसार माता-पिता की गोद में से उनके लाड़ले और अति सुन्दर बालकों को और कुटुम्बों में से किसी पूज्यमान् भद्र युवा को मृत्यु छीन ले जाती है। यदि कोई मनुष्य अपने किसी सम्बन्धी के साथ क्रूर बर्ताव करे वा उसकी रक्षा और पालन में अपना यथोचित धर्म पूरा न करे, तो अतीव संभव है कि आगामी जन्म में वह अपने आपको उस तिरस्कृत संबन्धी के साथ किसी निकट गूढ़ सम्बन्ध में पावेगा। सम्भव है कि यह सम्बन्ध बड़ा ही कोमलात्मक हो, और अकाल मृत्यु के कारण अंत में महाक्लेशकारी हो। तिरस्कृत मनुष्य अपने तिरस्कारी का इकलौता पुत्र बनकर आता है और समग्र धन का भागी, अपने माता-पिता की दृष्टि में होता है। परन्तु जब अकाल मृत्यु इस पुत्र को अकस्मात् ग्रास कर गृह को नष्ट कर जाती है, तब उसके माता-पिता को इस बात पर बड़ा

आश्चर्य आया करता है कि हमसे हमारा इकलौता बेटा, जो हमारा बड़ा आश्रय था, क्यों छीना गया। पड़ोस में तो अन्य मनुष्यों के बालकों को कुछ भी खेद नहीं हुआ है, उनका तो बाल भी बाँका नहीं हुआ, वे तो ज्यों के त्यों ही हैं। ऐसे क्लेश के समय उनके मुख से निकला करता है कि इस जन्म में तो मैंने कोई ऐसा उग्र पाप नहीं किया, जिसका यह दण्ड मुझे मिलता है। ईश्वर के दरबार में न्याय नहीं होता है। ऐसा होने पर भी कर्मों की गति यथावत् न्यायपूर्वक होती है। यद्यपि इसका बोध ऐसे मनुष्यों को नहीं हो सकता है, जिनकी अन्तर्दृष्टि न खुली हुई हो।

जन्मकाल से पैदा हुए रोग प्राणमय कोश के विकारवान् होने से होते हैं। प्रकृति के नियमों को उलङ्घन करने और अन्य मनुष्यों को कष्ट पहुँचाने के बदले में यह दण्ड देहधारी को जीवन भर भोगना पड़ता है। यह सब लीला धर्मराज के दूतों की कार्रवाई से होती है, और केवल उन कुरूपताओं (deformities) का स्थूल प्रकाश है, जो धर्मराज के दूतों को, देहधारी के प्राणमय कोश के ढाँचे में, उसके अपने दोषों और भूल चूक के कारण प्रकृति के नियमानुसार निर्माण करनी पड़ती हैं। इन दूतों ही की न्यायपूर्वक कार्रवाई से वंशरोग (family disease) के पुनः प्रकट करने के संस्कारों का आन्तरीय प्रवाह आता है। छाया देह का यथोचित ढाँचा और

रूप यही बनाते हैं। और फिर उसको ऐसे वंश की ओर ले जाते हैं, जिसमें वह रोग, जो देहधारी को भोगना होता है, परंपरा से चला आता हो, और जिसकी प्रकृति ऐसी हो जो उस रोग के बीज को अकुंरित करने और उसे फलीभूत करने में निरन्तर सहकारी रहे।

इसी प्रकार उत्तम शक्तियों के प्रकाश के वास्ते भी धर्मराज के दूतों को प्रबन्ध करना होता है। वे प्राणी के वास्ते छाया देह का ऐसा ढाँचा बनाते हैं जिससे स्थूल शरीर की नाड़ियाँ कोमल प्रकृतिवाली बन सकें। और फिर इस ढाँचे को वे ऐसे कुटम्ब की ओर ले जाते हैं, जिसके सभ्यों में उस उत्तम शक्ति का विशेष प्रकाश कई पीढ़ियों से चला आता हो। जैसे संगीत विषयक इन्द्रियों के निर्माण के वास्ते एक विशेष लक्षण वाले देह की आवश्यकता होती है। उसके श्रवण और त्वचा इन्द्रियाँ अतीव कोमल प्रकृति वाले होने चाहियें। इस कोमलता की प्राप्ति में योग्य वंश परम्परा (physical heredity) बड़ा सहकारी होता है।

श्रेष्ठ पुस्तक लिखने और अच्छे अच्छे व्याख्यानों द्वारा मनुष्य जाति की सेवा जो की जाती है, उसके बदले में भी योग्यफल धर्मराज की ओर से मिलता है। सेवक की मानसिक और अध्यात्मिक शक्तियों में बृद्धि हो जाती है।

इस प्रकार मोटी रीति से हम समझ सकते हैं कि कर्म्मों

की गति कौन से नियमों द्वारा होती है और मनुष्य के भाग्य में धर्मराज के दूतों और देहधारी जीवात्मा की क्या क्या कार्रवाई होती है। जीवात्मा सब द्रव्य (materials) को एकत्र करता है। धर्मराज के दूत और जीवात्मा दोनों इन द्रव्यों को अपने अपने स्वभाव और धर्म्मानुसार काम में लाते हैं। जीवात्मा अपने स्वभाव को बनाता है और शनैः शनैः अपनी उन्नति करता है। धर्म्मराज के दूत उसके वास्ते ऐसा ढाँचा रचते हैं कि जिसके कारण जीवात्मा की शक्तियाँ सीमाबद्ध रहें और उसके वास्ते योग्य परिस्थितियों को ढूँढ़ते हैं और उनमें अपने प्रबन्ध द्वारा प्रायः ऐसी समता लाते हैं कि जिससे मनुष्यों की विरोधी इच्छायें होने पर भी कर्मों के फल बिना चूक प्रकट हो सकें।

कर्म्म-भोग का सहन

जब पहले पहल किसी मनुष्य को कर्म्म रीति की सत्यता का बोध होता है तो उसको ऐसा भासा करता है कि यदि सब कुछ कर्म्मों ही की लीला है, तो मनुष्य अति दीन और परवश है, सर्वथा भाग्य (तक़दीर) के अधीन है, अपनी स्वतन्त्रता से कोई कार्य्य करने की उसमें कुछ सामर्थ्य नहीं है। पूर्व इसके कि इस बात का वर्णन हो कि मनुष्य किस विधि कर्म रीति की सहायता से अपने भाग्य को अपने वश में कर सके, एक साधारण उदाहरण को क्षणक विचार करना उचित प्रतीत होता है,

जिससे भली भाँति यह जान लिया जावे कि भाग्य (तक़दीर) और मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा शक्ति (तदबीर) दोनों एकट्ठी किस विधि क्रिया करती हैं, और परस्पर विरोधी नहीं होती हैं।

कल्पना करो कि एक मनुष्य कुछ एक स्वाभाविक सामान्य मानसिक शक्तियाँ लेकर इस संसार में जन्म लेता है, प्रकृति उसकी राजसिक है, उसके कई लक्षण शुभ और कई अशुभ हैं। छाया देह (Etheric double) और स्थूल देह उसके सामान्य रीति से भले चङ्गे बने हुये हैं और नीरोगी हैं परन्तु उनमें विशेष कांति वा शोभा नहीं है। यह सब बंधन उसके वास्ते रचे गये और इन बंधनों से घिरा हुआ होकर उसे व्यवहार करना पड़ेगा। युवावस्था को प्राप्त होने पर यह सब शक्तियाँ और राजसिक स्वभाव (जो उसका अधिभौतिक और अधिदैविक धन है) उसको मिल जाता है। इसी धन के साथ उसे संसार में यथाशक्ति लाभदायक बणिज करना होता है। इन बन्धनों में जकड़े रहने के कारण विचार के बहुत से शिखर (पहाड़) ऐसे हैं जिनके ऊपर वह निःसंदेह नहीं चढ़ सकता। कई एक प्रत्यक्ष (ज्ञान) ऐसे हैं जो उसकी सामर्थ्य से बाहर हैं, जिनमें उसकी बुद्धि प्रवेश नहीं कर सकती; बहुत से लोभ ऐसे आते हैं, जिनमें उसका राजसिक स्वभाव लम्पट हो जाता है और वह उनसे युद्ध भी करता है किन्तु फिर भी उसमें फँस जाता है। बहुत से कार्य्य जो शूर बीरता और चतुराई से सिद्ध होते

हैं उनको वह कर नहीं सकता। सच तो यह है कि जैसे वह अपनी देह को चन्द्रमा के सदृश प्रकाशवान् और कांति वाला नहीं बना सकता, वैसे ही वह सोच विचार में भी होनहार के तुल्य नहीं हो सकता। मानो कि वह एक चक्र में बँधा हुआ है। उसमें से निकलने के लिये चाहे वह तीव्र इच्छा ही क्यों न करे, तो भी उसमें से निकल नहीं सकता। इसके अतिरिक्त बहुत से कष्ट भी उसे आते हैं, इनसे वह बच नहीं सकता। अवश्यमेव उसे सहने ही पड़ते हैं।

प्रत्येक मनुष्य के साथ ऐसी ही दशा बर्त्तती है। मनुष्य अपने गत संकल्पों, विपरीत वासनाओं, व्यर्थ अवसर खोने और मूढ़ता से लोभ मोह में फँसे रहने के कारण अपने बन्धन आप ही पैदा करता है। वह उन्हीं भ्रांतियों और चूकों से घिरा हुआ होता है, जो कभी पूर्वकाल में उसने की होगी, किन्तु जिनको वह अब भूल गया है। विचार दृष्टि से यदि देखा जावे तो इतना होने पर भी मनुष्य बँधा हुआ नहीं है, यथार्थ मानुषीय सत्ता, जो उसमें विद्यमान् है, वह कभी हानि को प्राप्त नहीं हो सकती। जिस सत्ता ने उस गत अवस्था को रचा था, जो अब उसे बाँध रही है, वही सत्ता वर्त्तमान् समय में उस बंधन रूप पिंजरे में रहकर भी ऐसे उपाय कर सकती है जिससे उसका मुक्तिवाला भविष्यत् बन जावे। नहीं, यही नहीं, उसे ज्ञात रहे कि वह स्वयं मुक्त है और बन्धन रूप बेड़ियाँ जो उसके अङ्गों

में पड़ी हुई हैं, पुरुषार्थ से कट सकती हैं। जितनी उसके ज्ञान में वृद्धि होगी उतनी ही बन्धन रूपी बेड़ियों की भ्रान्ति उसको मालूम होती जावेगी। परन्तु एक साधारण मनुष्य के वास्ते, जिसका ज्ञान प्रज्वलित अग्नि के सदृश नहीं किन्तु स्फुलिङ्ग के सदृश उदय हुआ है, मुक्ति की पहली सीढ़ी यही होगी, यह निश्चय करे कि उसके बन्धन उसके अपने बनाये हुये हैं। किसी अन्य के बनाये हुये नहीं हैं और फिर इस निश्चय से उनके सुधार में यत्न करे। निःसन्देह ऐसे दृढ़ निश्चय की सहायता से वह एक क्षण भर में होनहार पण्डित के सदृश तो सोच विचार नहीं कर सकता किन्तु यथासामर्थ्य पूर्ण रीति से चिन्ता का स्वभाव डालने से शनैः शनैः होनहार पण्डित भी बन जावेगा। भविष्यत् के वास्ते वह शक्ति एकत्र कर सकता है और इसमें कुछ सन्देह नहीं कि यत्न करने से उसका मनोरथ सिद्ध होगा। सच है कि एक दम में तो वह अपने राजसिक स्वभाव और अवगुणों को त्याग नहीं सकता परन्तु यह तो कर सकता है कि उनसे युद्ध वा संग्राम करे और यदि हार भी जावे तो भी युद्ध न छोड़े, किन्तु इस निश्चय के साथ लड़ता रहे कि उसकी जीत होने वाली ही है। सच है कि उसमें अधिभौतिक और अधिदैविक न्यूनतायें तो बहुत सी हैं, किन्तु ज्यों ज्यों वह अपने विचारों को बलवान्, शुद्ध और सुन्दर और अपनी क्रियाओं को परोपकारी बनाता जाता है, त्यों त्यों आगे के लिये अपने रूपों की लावण्यता और

सुन्दरता को दृढ़ और परिपक्क करता जाता है। अपने बन्धन रूपी पिञ्जरे में भी वह सदैव निज रूप मुक्तात्मा में स्थित है और उन दीवारों को, जो उसने अपने गिर्द बना ली है, गिरा सकता है। उसके अपने सिवाय उसका कोई बन्दी कर्त्ता (Gaoler) नहीं है। वह अपनी मोक्ष की दृढ़ भावना कर सकता है और इसी दृढ़ भावना से उसको मोक्ष भी मिल जावेगी।

एक विपता उस पर पड़ती है, और उसमें वह एक मित्र को हाथ से खो बैठता है। उससे बड़ा भारी अपराध हो गया है, ऐसी ही भावी थी, भूतकाल में उसने अपने विचार में कोई अपराध किया था, वर्त्तमान् काल में कर्म का कर्त्ता बनकर वह कष्ट भोगता है। किन्तु उसका मित्र गुम नहीं हुआ, प्रेम द्वारा वह उसे अपने साथ संबद्ध रख सकता है, भविष्यत्काल में फिर उससे अवश्य मिलाप होगा। वर्त्तमान् काल में बहुत से और संबंधी हैं जिनके वास्ते वह वही सेवा कर सकता है जो वह अपने प्रिय मित्र के वास्ते करता। ऐसा करने से फिर वह अपने कर्त्तव्यों में असावधान न होगा और इसलिये आगामी जन्मों में इस प्रकार की हानिक बीज न बोवेगा। खुल्लमखुल्ला उसने अपराध किया है और उसका दण्ड भोगता है। किन्तु उस अपराध का विचार उसने भूतकाल में किया होगा वरना वह अब उसे वर्त्तमान काल में कर्म द्वारा न कर सकता।

अपने विचार द्वारा जो दण्ड उसने खरीदा है उसे वह चीरता

के साथ सहन करेगा और वर्त्तमान काल में अपने विचार को ऐसा शुद्ध रखेगा जिससे उसका भविष्यत् लज्जा से रहित रहेगा। जहाँ पहले अंधकार था अब वहाँ प्रकाश की एक किरण आती है और यह किरण उसे यह राग सुनाती है। हे दुखिया लोगों, जान लो कि तुमको जो दुःख होता है वह तुम्हारा ही बनाया हुआ होता है। कोई दूसरा बलात्कार तुमको दुःख नहीं दे सकता।

जो नीति बाँधने वाली बेड़ी समान दीखती थी वह अब पक्षी के पक्षों के समान काम देती है और उसके द्वारा वह उन लोकों तक गमन कर सकता है जिनका उसे उस नीति के बोध बिना स्वप्न में ख़्याल न आ सकता था।

भविष्यत् का निर्माण

जीवों के समूह के समूह काल के मंद गति वाले प्रवाह के साथ साथ बहते हुये चलते हैं। संसार अपने चक्र के साथ उनको भी अपने साथ उठाय ले चलता है। जब एक पृथिवी से दूसरी पृथिवी पर जीवन की तरङ्ग पहुँचती है, तो ये भी उसी के साथ चले जाते हैं। परन्तु महर्षियों के प्रसाद से सनातन धर्म का सिद्धान्त बारंबार डङ्का बजा कर दिखला रहा है, कि यदि चाहे तो मनुष्य प्रवाह के साथ बहने से रुक सकता है और संसार की मंद गति को अतिक्रमण उलङ्घन, करने की विधि सीख सकता है।

जब जिज्ञासु को इस नियम (कर्म्म) के अर्थ कुछ भी समझ में आ जाते हैं और उसका निश्चय इस नियम की अटलता और अचल न्याय-कार्यता में दृढ़ हो जाता है, तो उसे अपने सुधार का सोच विचार उपजता है। वह सचेत होकर अपनी उन्नति के उपायों को उत्साह के साथ साधने लगता है। अपने स्वभाव को सूक्ष्म रीति से परीक्षा करने लगता है। निज दोषों पर दृष्टि करके उनको व्यवहार के निमित्त उचित रीति से बदलने लगता है, और सोच विचार के साथ मानसिक और धार्मिक गुणों को अपने में बढ़ाने लगता है, निज सामर्थ्य को बढ़ाना और निर्बलता को दूर करना आरंभ कर देता है, अपनी न्यूनताओं को पूर्ण करने और अशुद्ध और मैल की निवृत्ति करने में तत्पर हो जाता है। जिसका ध्यान मनुष्य करता है निस्संदेह वह वैसा ही बन जाता है, इस सिद्धांत के ज्ञान को प्राप्त करके वह सावधानी के साथ अपने परम पवित्र और महान् लक्ष्य की निरंतर चिंता करने लगता है। प्रतिदिन अपने व्यवहार को लक्ष्य के गुणों से शोभित करने में वह अभ्यास करता है। यह कार्य्य दृढ़ता और शांति के साथ करता है, न उसमें शीघ्रता ही करता है और न ढील, क्योंकि वह जानता है कि वह अपना घर प्रकृति के नित्य और अटल नियम की स्थिर नींव पर बना रहा है। उस नियम ही से उसकी प्रार्थना होती है और वही उसका पुज्य और आश्रय है। ऐसे मनुष्य को कभी किसी कार्य्य में असिद्धि प्राप्त नहीं होती

है। न इस लोक में न परलोक में कोई ऐसी शक्ति है जो उसके मार्ग में विघ्नकारी हो सके। सांसारिक जीवन में वह तजुर्बे एकत्र करता है, जो कुछ उसके मार्ग में आता है उससे यथोचित काम लेता है। देवाचन में जाकर उन सब एकत्र तजुर्बे का सार निकाल उसे अपनी प्रकृति का अंश बना लेता है और इस प्रकार अपने भविष्यत् को सुधारता है।

उक्त वृत्तान्त से पाठकों को ज्ञात हो गया होगा कि जीवन के सच्चे सिद्धान्त के ज्ञानमात्र का ही कितना बड़ा माहात्म्य है। यद्यपि यह सिद्धान्त अन्य पुरुषों की साक्षी पर माना जावे और निज अनुभव में पूरा पूरा न आवे, तो भी इसके केवल बोधमात्र से कैसे कैसे अद्भुत् लाभ होते हैं। जब मनुष्य कर्मों की गति को किंचित् मात्र भी समझ लेता है और उसे स्वीकार कर लेता है, तो वह तत्काल ही अपने सुधार को आरम्भ कर सकता है। स्वभाव रूपी घर के बनाने में एक एक ईंट को बड़े सोच विचार के साथ जमाने की आवश्यकता उसे मालूम हो जाती है, क्योंकि अब उसे ऐसा घर बनाना है जो अनन्त काल तक चल सके। व्यर्थ दौड़ धूप और जल्दी में अपना कार्य्य नहीं बिगाड़ता। अपना सब व्यवहार विधिपूर्वक करता है, ऐसा नहीं कि आज एक उपाय करे, कल दूसरा और परसों कुछ भी न करे, खाली हाथ पर हाथ रख कर बैठ जावे। स्वभाव रूपी घर के चित्र (Plan) को बड़ी चिन्ता और विचार के साथ बनाता

है और फिर उस चित्र के अनुसार उस घर को चिनने लगता है, और अपने अमूल्य समय को किसी कार्य्य के निष्फल आरंभ में व्यर्थ नहीं खोता है। इसी कारण मनुष्य उन्नति की ऊँची सीढ़ियों पर जल्दी जल्दी चढ़ जाता है और शूरवीर पुरुष ऐसी शीघ्रता से परम उद्धार को प्राप्त होता है जिससे लोगों को विस्मय (हैरानी) होता है।

कर्मों का निर्माण

जिस मनुष्य ने अपने भविष्यत् को सावधानी से बनाना आरम्भ कर दिया है, उसे अनुभव हो जावेगा, ज्यों ज्यों उसकी बुद्धि सूक्ष्म होगी। उसमें केवल इतनी ही सामर्थ्य नहीं है कि वह अपने स्वभाव का सुधार कर ले और अपने भाग्य को बढ़ा लेवे, किन्तु इससे बढ़कर कार्य्य करने का बल उसमें आ गया है। उसे इस बात की प्रतीत होने लगती है कि वह वास्तव में सबका केन्द्रस्थान है। वह चेतन, उद्योगी और स्वयं निश्चयात्मक सत्ता है और जैसे वह अपनी क्रिया द्वारा अपनी हानि लाभ कर सकता है, वैसे ही संसार में भी अन्य मनुष्यों की हानि लाभ कर सकता है। चिरकाल से वह अपना चलन व्यवहार उन धर्मों के अनुकूल रखता चला आया है, जो ऋषि मुनियों ने प्रति युग में मनुष्य जाति के उद्धार के निमित्त स्थापन किये हैं। अब वह इस बात को समझता है कि यह धर्म्म

प्रकृति माता के मुख्य नियमानुसार है, और नीति शास्त्र केवल इन नियमों का सम्बन्ध मनुष्य के आचार व्यवहार के साथ बतलाता है। वह देखता है कि प्रतिदिन के व्यवहार में सुकर्म्म के द्वारा दुष्कर्म्म का नीच फल निर्बल अथवा नष्ट किया जा सकता है। एक मनुष्य उसके वास्ते नीच संकल्प भेजता है। यदि वह उसका उत्तर सजातीय नीच संकल्प से देवे, तो दोनों संकल्पों के रूप पानी की दो बूँद की तरह साथ साथ आकाश में भ्रमण करने लगते हैं और जैसे जल की बूँदें एकत्र होकर एक दूसरे के वेग को बढ़ाती हैं, उसी प्रकार सजातीय संकल्प-रूप भी एक दूसरे के वेग को बढ़ाते हैं। किन्तु वह कदापि नीच संकल्प का उत्तर नीच संकल्प से नहीं देता, क्योंकि वह कर्म्म-गति का ज्ञाता है। भ्रष्ट और दुराशय वाले संकल्पों का उत्तर प्रेम और दया से भरे हुये संकल्पों से देकर, उनके हानिकारक रूपों को छिन्न भिन्न कर देता है। यह रूप छिन्न भिन्न होने के पश्चात् भौतिक जीवन सत्ता (elemental life) से सचेत नहीं रह सकता। रूप से अलग होकर यह सत्ता फिर आकाश में लीन हो जाती है और रूप नाश को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार संकल्प रूपों का हानिकारक भाव निवृत्त हो जाता है। निस्संदेह प्रीति और प्रेम द्वारा वैर और द्रोहादि के नीच भाव सब क्षय हो जाते हैं। गगनमण्डल में असत्य और अज्ञान से भरे हुए और भ्रान्ति को उत्पन्न करने वाले अनन्त संकल्प-रूप

भ्रमण करते हैं। ज्ञानवान् पुरुष अपने सत्य और ज्ञानमय संकल्प भेजकर उनका नाश करते हैं। शौच से अशौच का और दान से स्वार्थता का नाश करते हैं। ज्यों ज्यों ज्ञान में बृद्धि होती है त्यों त्यों यही क्रिया साक्षात् और सार्थिक बनती जाती है। अर्थ-सिद्धि के निमित्त निश्चय के साथ संकल्प उत्पन्न किये जाते हैं, और बलवान् इच्छा शक्ति की ताक़त उनमें फूँकी जाती है। इनके द्वारा घोर दुष्कर्म उपजते ही नष्ट हो जाते हैं और उनका कोई अंश भी गगनमण्डल में शेष नहीं रहता है, जिससे हानिकारक बान को चलाने वाले मनुष्य और उस सज्जन के मध्य में, जिसने क्षमा द्वारा इस बान को भस्म कर दिया है, कोई कर्म्मरूपी सम्बन्ध रहे। इसी नियम को जान कर प्राचीन ऋषि मुनि उपदेश दिया करते थे कि अधर्म्म को धर्म्म द्वारा जीत सकते हैं, अन्यथा नहीं। उनका कथन था कि शत्रु के साथ मित्रता और प्रेमभाव करने से शत्रु का वैरभाव दूर हो जाता है। प्राचीन ऋषि मुनि दिव्य चक्षु द्वारा इन नियमों को साक्षात् देख कर उपदेश किया करते थे। जो लोग इन गूढ़ उपदेशों की वास्तविक और यथार्थ युक्तियों को पूर्ण रीति से तो समझ नहीं सकते किन्तु श्रद्धापूर्वक अपना व्यवहार उनके अनुकूल रखते हैं, वे भी बड़ा उपकार करते हैं। वे कर्म्मों के उस भारी बोझ को हलका बनाते हैं, जो अत्यन्त ही भारी बन जाता, यदि वे भी द्रोह का उत्तर द्रोह में देते। ज्ञानवान् पुरुष ऋषियों

के वचनों के सार को समझ कर नीच संकल्प-रूपों को अपने ज्ञान से नाश करते हैं। पाप के बीज को निःफल बना कर आगामी दुःख संग्रह को निवृत्त करते हैं।

मन्द प्रवाह के साथ साथ चलने वाले साधारण मनुष्यों की भूमिका उलंघन करके जब मनुष्य विशेष पद को प्राप्त करता है, तब उसकी सामर्थ्य केवल इतनी हीन होगी कि अपने स्वभाव को सुधार सके, अपने से संसर्ग में आने वाले संकल्प-रूपों पर अपना भाव डाल कर उनको संसार के उद्धार के निमित्त परोपकारी बना सके, किन्तु इससे बढ़कर उसमें एक और शक्ति आ जाती है। अब वह भूतकाल के वृतान्त को जानने लगता है, अपने ज्ञानबल से वर्त्तमान काल की दशा यथार्थ रीति से जाँच सकता है, और कर्मों के फलों का खोज बहुत दूर तक लगा सकता है। सचेत रीति से अपनी शक्ति काम में लाकर वह भविष्यत् को बहुत कुछ बदल सकता है। वह अपनी क्रियाशक्ति को उन शक्तियों के प्रतिकूल काम में लाता है, जिनकी उद्योगिता भूतकाल में आरंभ हो चुकी है। अपने ज्ञानबल से अर्थसिद्धि के निमित्त प्रकृति के नियमों को वह ऐसे निश्चय के साथ वर्त्तने लगता है कि जिस निश्चय के साथ पश्चिम देश में पदार्थ विद्या के वेत्ता प्रकृति के नियमों को वर्तते हैं।

इस विषय के तत्त्व का अनुभव करने के वास्ते उचित प्रतीत होता है कि एक जड़ पदार्थ की संचालन गति को

बिचारा जावे, किसी शक्ति के बल से हिलकर जब एक पदार्थ भ्रमण करने लगता है तो उसकी गति नियत वेग से होगी। यदि इस पदार्थ पर एक और शक्ति लगाई जावे, जिसकी दिशा और वेग कुछ और ही है, तो वह पदार्थ न तो पहले मार्ग पर चलेगा, और न दूसरी शक्ति के मार्ग पर; किन्तु उसकी दिशा उन दोनों दिशाओं के बीच में होगी, और वेग की तीव्रता भी बदल जावेगी। इसमें शक्ति की कुछ हानि नहीं हुई है; किन्तु एक शक्ति का कुछ अंश दूसरी शक्ति की क्रिया को थोड़ा सा निवारण करने में ख़र्च हो गया है। दोनों शक्तियों की क्रिआओं का जो फल है, उसी के वेग और दिशा के अनुसार पदार्थ की संचालन गति वर्तेगी। साएंसवेत्ता गणित द्वारा ठीक ठीक मालूम कर सकता है कि किसी भ्रमते हुए पदार्थ पर किस दिशा में, और कितने बल से टक्कर लगाई जावे ताकि उसकी संचालन गति हमारी इच्छानुसार हो जावे। और यदि भ्रमता हुआ पदार्थ उसकी पकड़ से बाहर भी हो अर्थात् उससे दूर भी हो, तब भी वह उसकी ओर एक दूसरे पदार्थ को विशेष दिशा में विशेष वेग के साथ फेंककर उसे ऐसी टक्कर दे सकता है, जिससे वह अपने पहले मार्ग से हटकर इच्छित मार्ग पर भ्रमण करने लगे। इससे प्रकृति के नियमों में कुछ हानि नहीं पड़ी, उनके विरुद्ध कुछ क्रिया नहीं हुई। केवल नियम का ज्ञान होने से अर्थ की सिद्धि की गई है, मनुष्य के मनोरथ की सिद्धि करने के

निमित्त प्रकृति की शक्तियों को काम में लगाया गया है। इसी निश्चय को यदि कर्म्मगति में लगाया जावे, तो सहज ही से समझ में आ जावेगा कि ज्ञान-बल से कर्मों की गति को मोड़ने में कर्म्म-व्यवस्था का कोई नियम किञ्चित् मात्र भी उलंघन नहीं होता है। उसकी अटलता और सत्यता ज्यों की त्यों बनी रहती है। कर्म्मगति को मोड़ने में हम कार्म्मिक शक्ति को ही काम में लाते हैं। प्रकृति के नियमों की आज्ञा-पालन से हम प्रकृति माता को जीत लेते हैं।

अभ्यास करते करते जिज्ञासु इस भूमिका तक पहुँच जाता है, जहाँ से व्यतीत गति पर दृष्टि डालने से उसको अनुभव होता है कि भूत क्रियाओं का प्रवाह विशेषता से किस दिशा में और किस वेग से हो रहा है, और उनसे कौन कौन से अनिष्ट फलों की प्राप्ति होने वाली है। ऐसा होने पर प्रवाह के प्रतिपक्ष निज शक्ति को लगा कर उससे उत्पन्न होने वाली घटना को वह बदल सकता है। और यह बदली हुई घटना उन सब शक्तियों के फलानुसार होगी जो उसके उत्पन्न करने और फलीभूत करने में काम आई हैं। भविष्यत् रचनाओं को इस प्रकार पलटने के वास्ते विशेष ज्ञान का होना अत्यावश्यक है। केवल कर्मों की व्यतीत गति को देख लेना, और वर्त्तमान समय के साथ उनके सम्बन्ध का खोज निकाल लेना ही काफ़ी नहीं है। जब विशेष ज्ञान की उपलब्धि होती है, तब उसके बल से गणित द्वारा

वह ठीक ठीक मालूम कर सकता है कि उसकी अपनी शक्ति का क्या असर होगा। भूत कर्मों का प्रवाह कितना और किधर पलटा खावेगा और पलटा खाकर इस प्रवाह से क्या क्या फल प्रगट होंगे और उनसे क्या क्या हानि लाभ होंगे। जब ऐसी सामर्थ्य हो जाती है, तब मनुष्य अपने कर्म्म-प्रवाह में नवीन शुभ शक्तियों को डाल कर दुष्कर्मों के फलों को निर्बल अथवा निष्फल बना सकता है, और उनसे नई नई रचनायें रच सकता है। यही यथार्थ रसायन है। जिनको इसकी प्राप्ति हुई है उनको लोहा और स्वर्ण समान हो जाते हैं। उनकी सब तृष्णायें निवृत्त हो जाती हैं। अतएव सबको यही उचित है कि उस ज्ञान रूपी पारस को ढूँढ़ें जिससे उनका पाप रूपी लोहा स्वर्ण रूपी पुण्य में पलट जावे।

भूतकाल की क्रियायें अक्रियायें तो नहीं हो सकतीं, उनका नाश तो नहीं कर सकते किंतु उनका जितना फल भविष्यत् में होनेवाला शेष रहता है, उसे बहुत कुछ बदल सकते हैं। इतनाही नहीं, नवीन सुकर्म्म द्वारा उन कर्म्मों से उन्हीं के विपरीत फलों की उत्पत्ति भी हो सकती है। इन सब बातों में प्रकृति का कोई नियम उलङ्घन नहीं होता है। साधकजन अपने ज्ञानबल द्वारा प्रकृति की नीति को व्यवहार में वर्त्तते हैं और उससे उन्नति को प्राप्त होते हैं। उनकी क्रियायें ऐसी ही निश्चयात्मक होती हैं, जैसी पदार्थ-वेत्ताओं की, जो एक शक्ति के बल को दूसरी शक्ति

के बल से रोक कर समता उत्पन्न करते हैं। यद्यपि वे शक्ति को तो किञ्चित् मात्र भी नाश वा अविद्यमान नहीं कर सकते, किन्तु नवीन शक्तियों को लगा कर, उनके वेग और प्रवाहों की गणना करके, पदार्थ की संचालन गति को अपने इच्छानुसार पलट सकते हैं। इस प्रकार कर्म्मों की गति को मध्यम वा तीव्र भी बना सकते हैं। कर्म्मों की लीला उन सम्बन्धों से बदल जाती है, जिनके आश्रय वे परिपक्क होकर फलीभूत होते हैं।

चूँकि इस विषय का बोध अत्यावश्यक और फलदायक है, इस वास्ते इसको एक और नये ढंग पर वर्णन करना अयोग्य न होगा। जितना ज्ञान बढ़ता है, उतना ही मनुष्य व्यतीत क्रिया के फन्दे से सुगमता के साथ छुट सकता है। कारण रूपी कर्म, जो अपने फलीभूत भाव को प्राप्त हो रहे हैं, सबके सब उस जिज्ञासु की दृष्टि में आते हैं जो मुक्ति के समीप पहुँच रहा है। जब दृष्टि उलटा कर पिछले जन्मों को देखने से सैकड़ों जन्मों के वृत्तांत (कि जिनमें उसने शनैः शनैः उन्नति की थी) उसके सम्मुख होते हैं, तब उसे अनुभव होता है कि किन किन कारणों से किन किन कर्म्म-बन्धनों को उसने उत्पन्न किया था, उनमें कौन कौन से तो भुगते जा चुके हैं, किन किन के भोग का समय अब आ रहा है, और भविष्यत् में क्या होने वाला है। कारण कार्य्य रूपी कर्म्म दोनों उसे साक्षात् दृश्य आते हैं।

जैसे स्थूल प्रकृति की नीति का साधारण ज्ञान होने से,

ख़ास ख़ास अनागत घटनाओं का वृत्तान्त और उनकी विधि पहले से ही मालूम हो जाती हैं, तैसे ही साधक पुरुष को भी अपने गत कर्म्मों और उनकी भाव्य गति का पता लग जाता है ।

जब कारणों का ज्ञान हो जाता है और उनकी गति दृष्टि-गोचर हो जाती है तब उनके कार्य्यों को नवीन शक्ति द्वारा निष्फल बनाना सम्भव है । नीति के अनुसार वर्त्तने, उसके अटल और नित्य समान स्वभाव पर निश्चय रखने और उद्योगित शक्तिओं के वेग की गणाना करने से उनसे जैसा फल चाहें वैसा पैदा कर सकते हैं । यह तो केवल गणित विद्या की बात है, इसमें कुछ विशेष गुह्य भेद नहीं है । एक मनुष्य घृणा वा द्वेष भाव की थरथराहटें, मानो पहले पैदा कर चुका है; यदि वह चाहे तो सावधान होकर इन थरथराहटों को शांत कर सकता है । उनके प्रतिकूल प्रेम और प्रीति की थरथराहटें उत्पन्न करके वर्त्तमान वा भविष्यत् में उनसे उपजने वाले फल को क्षय कर सकता है ।

पहले शब्द की एक लहर को लेकर और फिर दूसरी लहर को लेकर और फिर दोनों की गति को एक दूसरे के पीछे इस तरह करके, कि जिससे एक लहर के घन अंश की थरथराहट दूसरी लहर के अघन अंश की थरथराहटों के साथ संयुक्त हो जावें, देखो कि कैसी सोहावनी शान्ति पैदा हो जाती है । कोलाहलों के मिलाप में से जिस प्रकार शांति उत्पन्न हो सकती है, वैसे ही ज्ञान और इच्छा शक्ति के बल से प्रेम और द्वेष भावों की

थरथराहटों को परस्पर मिला कर उनसे समता पैदा की जा सकती है, और कर्म्म-पाश भस्म की जा सकती है। ऐसी समता करने से मनुष्य उस कर्म्म से मुक्त हो जाता है, क्योंकि समता मुक्ति का दूसरा नाम है।

ऐसा ज्ञान प्रायः मनुष्यों की समझ से बाहर है। तत्त्वज्ञान से लाभ उठाने के निमित्त साधारण मनुष्य जो कुछ उनसे बन सकता है वह यह है कि इस विषय में निपुण पुरुषों की सम्मति लेवें और संसार के बड़े बड़े धार्मिक आचार्य्यों के वचनों को सोचें। इन वचनों के अनुसार जिनकी साक्षी उनको अपने अनुभव से मिले (यद्यपि वह उनको विधि-सहित पूण रीति से तो नहीं समझें) वर्त्तने से वे वैसी क्रियायें उत्पन्न कर सकते हैं जैसे सोचे समझे हुये ज्ञानबल की सहायता से हो सकती हैं। इस प्रकार आचार्य्य भक्ति और उसकी आज्ञापालन द्वारा जिज्ञासु को मुक्ति का वही पद मिल जाता है जो ज्ञान प्राप्ति से मिलता है।

इन नियमों को सर्व सम्बन्धों-सहित विचारने से जिज्ञासु को बोध होने लगेगा कि किस प्रकार मनुष्य अविद्या के फन्दे में फँसकर बेवश हो रहा है, और मानसिक उन्नति में ज्ञान से कितने बड़े बड़े लाभ होते हैं। मनुष्य प्रवृत्ति मार्ग में लग जाते हैं और इधर उधर धक्के खाते हैं क्योंकि उनको ज्ञान नहीं होता है। वे पराधीन और असमर्थ होते हैं क्योंकि चक्षुहीन हैं। साधारण मनुष्यों की अपेक्षा जो अधिक वेग के साथ अपने मार्ग की अन्तिम

अवस्था तक पहुँचना चाहते हैं, और जो सुस्त मनुष्यों के समूहों को ऐसा ही पीछे छोड़ना चाहते हैं जैसे घुड़दौड़ में दौड़ने वाला मनुष्य थके हुए और बृद्ध घोड़ों को त्याग देता है, उन्हें ज्ञान और प्रेम, अथवा विज्ञान और ईश्वर-भक्ति की आवश्यकता होती है। उन्हें कर्म्म बन्धन रूपी जञ्जीर की कड़ियों को शनैः शनैः घिसाकर तोड़ने की आवश्यकता नहीं है। वे शीघ्रता से उन कड़ियों को रेतकर उड़ा सकते हैं और उनके बन्धन में से पूर्ण रीति से निकल सकते हैं।

कर्म्म-क्षय

कर्म्म ही हमारे पुनर्जन्म का कारण है। यही हमको जन्म और मृत्यु रूपी चक्र के साथ बाँधता है। शुभ कर्म वैसे ही बल से हमको पीछे खींचते हैं, जैसे अशुभ कर्म्म। पुण्य कर्म्मों की पाशाओं से गुँधा हुआ जाल वैसी ही स्थिरता और दृढ़ता से हमको बाँधता है, जैसे पापों से बना हुआ जाल बाँधता है।

अब प्रश्न यह है कि इस जाल की बनावट का अंत किस विधि होगा, इसके फन्दे क्योंकर कटेंगे। जब तक देह में निवास होता है, तब तक संकल्प (thougts) और भावना (feelings) देही में अवश्य उपजती हैं, इनसे बचा नहीं जा सकता, और इन्हीं से कर्म-बन्धन सदा उपजते रहते हैं और बृद्धि को प्राप्त होते हैं। संसार में रहना, उसके सर्व व्यवहार करना और फिर कर्म-बंधन में न फँसना दुस्तर सा प्रतीत होता है। साधारण

बुद्धि से तो यह विपरीत ही सा भासता है, किन्तु ऐसा नहीं है। इसके उत्तर में श्रीमद्भगवद्गीता का महान् उपदेश है, जो शूरवीर राजपुत्र को समझाया गया था। यह उपदेश न तो किसी वानप्रस्थि को दिया गया था, और न ब्रह्मचारी विद्यार्थी को; किन्तु एक ऐसे योधा को जो विजय पाने का यत्न कर रहा था; यह उपदेश एक ऐसे राजपुत्र को दिया गया था, जो गृहस्थी था और अपने राजधर्मों में सर्वथा तत्पर था।

कर्म-बन्धन क्रिया से कदाचित् नहीं उपजते। इनका कारण तो वासना है। क्रिया बन्धन रूप नहीं होती है, किन्तु उसके फल की आसक्ति महान् बन्धन रूप है। प्रायः क्रियायें फल भोग की अभिलाषा से की जाती हैं, फल प्राप्ति की इच्छा से आचारण स्वीकार किये जाते हैं; जीव आशायुक्त होता है, और प्रकृति (Nature) को नीति के अनुसार उसका प्रत्युत्तर देना पड़ता है, जीव याचना करता है, प्रकृति को उसे अवश्यमेव पूर्ण करना होता है। प्रत्येक कारण के साथ उसका कार्य सम्बन्धित रहता है, क्रिया और उसका फल कभी भिन्न भिन्न नहीं हो सकता, क्रिया फल के साथ सम्बन्धित है। इनका परस्पर सम्बन्ध आशा रूप पाश के द्वारा होता है। जिस प्रकार सूत्र माला के मनकों को एकत्र और परस्पर मिलाकर रखता है, ठीक उसी प्रकार आशा रूपी सूत्र भी कर्मों और उनके फलों को संयुक्त रखता है। यदि यह सूत्र भस्म कर दिया जावे, तो संबंध क्षीण

हो जावेगा, और जब हृदय की सब ग्रंथियाँ क्षय हो जावेंगी तो जीव मुक्त होगा। कर्म फिर उसे कदापि स्पर्श नहीं कर सकता, कर्म फिर उसे कदापि बाँध नहीं सकता, कारण कार्य रूपी चक्र घूमता भी रहे, किन्तु जीव अब जीवन मुक्त हो गया है, इससे वह बँध नहीं सकता। अर्जुन को भगवान् उपदेश देते हैं:-

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥३॥१९॥

भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन, "इसलिये संग-रहित हो निरन्तर अपने करने योग्य कर्म्मों को कर, विषयों में आसक्त पुरुष कर्म को करता हुआ निश्चय परम पद को पाता है।

योग साधने के वास्ते मनुष्य को उचित है कि प्रत्येक कार्य्य को कर्तव्य धर्म्म समझ कर नीति के अनुसार विधिपूर्वक करे। क्रिया चाहे किसी प्रकार की हो (अधिभौतिक, अधिदैविक, वा आध्यात्मिक) पर नीति के अनुसार उसका अनुष्ठान करने में मनुष्य का उद्देश्य यह होता है कि वह जगतोद्धार में दैवी इच्छा (Divine will) के अनुचारी और सहकारी शक्ति बन जावे; और इसी वास्ते वह अपनी प्रत्येक उद्योगिता में दैवी इच्छा की आज्ञा पूर्ण रीति से पालन करता है। उसकी सब क्रियायें यज्ञ रूप बन जाती हैं, उनका अनुष्ठान नीति चक्र के भ्रमण निमित्त होता है, न कि इस निमित्त कि उनसे फलों की प्राप्ति हो। कर्तव्य धर्म्म जान कर क्रिया की जाती है, और

उसका फल मनुष्य जाति के हितार्थ प्रसन्नता-पूर्वक त्याग दिया जाता है। क्रिया के साथ कर्त्ता का कोई शेष सम्बन्ध नहीं रहता। क्रिया नीति को अर्पण की गई है, नीति ही उसके फल को परोपकार में लगाती है। श्रीमद्भगवद्गीता के चौथे अध्याय में यह विषय इस प्रकार वर्णन किया गया है:—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्म्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥
त्यक्त्वा कर्म्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्म्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैवकिञ्चित् करोति सः ॥२०॥
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥
यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥
गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

अर्थ—जिसके सब उद्योग कामना और संकल्प से रहित हैं, और सब कर्म्म ज्ञान रूप अग्नि से भस्म हो गये हैं, उसको ज्ञानी लोग पण्डित कहते हैं ॥१९॥

कर्म्म के फल में आसक्ति को छोड़ कर, जो सर्वदा तृप्ति को प्राप्त आश्रय-रहित है वह कर्म्म में प्रवृत्त हुआ भी कुछ नहीं करता ॥२०॥

सब कामनाओं से रहित, एकाग्र चित्त, बन्धन के कारणों को छोड़ जो केवल शरीरस्थिति के अर्थ कर्म्म करता है, वह पाप का भागी नहीं होता ॥२१॥

अपने आप जो वस्तु मिले उसी में संतुष्ट, शीतोष्ण आदि द्वन्द्व पदार्थों के क्लेश को न मानने वाला, मत्सर से रहित, अर्थ की सिद्धि और असिद्धि में एक सा रहने वाला पुरुष कर्म करके भी बन्धन को नहीं पाता ॥२२॥

आसक्ति शून्य, राग और द्वेष से मुक्त, ज्ञाननिष्ठ, यज्ञ के निमित्त कर्म करते हुए पुरुष का संपूर्ण कर्म विलय हो जाता है॥२३॥

शरीर और मन अपने अपने स्वाभाविक व्यवहार करते हैं, शरीर से सब स्थूल क्रियायें और मन से मानसिक क्रियायें की जाती हैं, किन्तु आत्मा ज्यों का त्यों अपने आपमें शान्त और अखेद्य रहता है। और काल की बेड़ियों के बनाने में अपनी सत्ता नहीं देता। सत्कर्म्म का कभी त्याग नहीं किया जाता है, किन्तु श्रद्धापूर्वक यथासामर्थ्य पूर्ण किया जाता है। कर्म्म फल के त्याग वा उसमें आसक्त न रहने का यह अभिप्राय नहीं है कि कर्मों के अनुष्ठान में बेपरवाही वा आलस्य किया जावे। जैसा कि श्री मद्भगवद्गीता के अध्याय ३, श्लोक २५ वा २६ में लिखा है:—

सक्ताः कर्मण्य विद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
योजयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन ॥२६॥

अर्थ—हे भारत, मूर्खजन कर्म के विषय में आसक्त होकर जैसा उसका आचरण करते हैं, वैसा विवेकीजन कर्म में निरासक्त होकर लोकमर्यादा की इच्छा से कर्म्म का आचरण करें ॥२५॥

ज्ञाननिष्ठ, कर्म करने वाले अज्ञानियों की मति को चञ्चल न करे। किन्तु सावधान हो, सब कर्म्मों को करता हुआ उनसे कर्म ही करावे ॥२६॥

जो मनुष्य क्रिया में अकर्त्ता भाव को निभा सकता है अर्थात् कर्म में अकर्म को देख सकता है, या यों कहो कि कर्म के कर्त्ता भाव को अपने अहं में नहीं फुरने देता है, वह कर्मों को क्षय करने वाला गुप्त मन्त्र जानता है। वह संचित कर्मों को ज्ञानबल से क्षय करता है, और क्रियमाण कर्मों को भक्ति के बल से भस्म कर डालता है। इसी अवस्था को प्राप्त करके वह ऐसे धाम (वा पद) में प्रवेश करता है, जिसमें से फिर पुनरावृत्ति नहीं होती। इस मंदिर में से निकल कर प्राणी बारंबार मृत्यु-लोक में आता है, परन्तु एक समय ऐसा भी आता है, जब यह आवागमन बन्द हो जाता है, और प्राणी ऐसा अचल और स्थिर हो जाता है, मानो मन्दिर का स्तम्भ ही है। वह मन्दिर जीवन मुक्तों का लोक है, और उसमें वही प्रवेश कर सकते

हैं, जो किसी पदार्थ के साथ अपनी स्वार्थता के निमित्त बंधायमान नहीं हैं।

इसलिये कर्मों के फन्दों से बचने के लिये यह अत्यावश्यक है कि वासना की ग्रंथियों को तोड़ा जावे। जितनी वासनायें देहाभिमानी मलिन अहंकार (Personality) और परिछिन्न शुद्ध अहंकार (individuality) में उपजती हैं, वे सब त्यागने योग्य हैं। अब यह विचार करना है कि इन ग्रंथियों का छेदन किस प्रकार आरम्भ किया जावे। इस विषय में प्रायः मनुष्यों को भ्रान्ति हुआ करती है। सामान्यता से लोग समझ लेते हैं कि हृदय के छेद करने से उसकी ग्रंथियाँ भी नाश हो जाती हैं, ऐसा कदापि नहीं होता है। पत्थर वा धातु के टुकड़ों के समान जड़ और अचेतन बनने का यत्न करने से कभी वासना का क्षय नहीं होता है। मुमुक्षु की प्रकृति में प्रतिदिन कोमलता अधिक होती रहती है, घटती कभी नहीं। ज्यों ज्यों वह मुक्ति के द्वार के निकट पहुँचता जाता है, त्यों त्यों ही उसके हृदय में कोमलता बढ़ती जाती है, न कि क्रूरता, क्योंकि पूर्ण शिष्य वही होता है, जो अपने गुरु के समान बाह्य जगत की सब तरंगों को और उनके वेगों को यथावत् जान सके, जो हरएक क्रिया के भाव को अनुभव करके, उसका प्रत्युत्तर दे सके, और जो स्वयं वासना शून्य होने के कारण प्रत्येक वस्तु सबको दे सके। ऐसा मनुष्य कर्मों से बन्धायमान् नहीं होता है, वह अपने बन्धन के निमित्त बेड़ियाँ

नहीं बनाता। ज्यों ज्यों मुमुक्षु दैवी शक्ति के प्रवाह को संसार में फैलाने वाली प्रणाली बनाता है, तैसे ही उसकी प्रार्थना इससे इतर कुछ नहीं रहती। वह एक ऐसी सरिता हो जावे कि जिसका फाट (bed of a channel) चौड़ा हो, जिससे उसमें जीवन शक्ति का प्रवाह बिना रुकावट चला करे। केवल एक यही इच्छा उसको होती है कि वह योग्य पात्र बने, ताकि उसकी अज्ञानता के कारण उसके द्वारा बहने वाली दैवी शक्ति का प्रवाह मलिन न हो जावे। क्रियायें करने में सेवा के इतर उसका और कोई प्रयोजन नहीं रहता। मुमुक्षुजनों का जीवन-चरित्र ऐसा हुआ करता है कि जिसमें वे बन्धनरूपी बेड़ियों को काट डालते हैं, किन्तु एक बन्धन रहता है, जो कभी नहीं टूटता। यह बंधन सच्चा एकत्व भाव है, जो वास्तव में कोई बन्धन नहीं है, क्योंकि अद्वैत भाव लक्षण से युक्त है। यह एक ऐसा बन्धन है जो एक को सबके साथ और व्यष्टि को समष्टि के साथ, शिष्य को गुरु के साथ, और गुरु को शिष्य के साथ, एक रूप कर देता है। यह बंधन दैवी जीवन सत्ता रूप है, जो हमको सदा आगे ऊपर की ओर खींचता रहता है, और जन्म मरण के चक्र में नहीं पड़ने देता। पहले तो हम वासना से वशीभूत होकर भोगों के निमित्त संसार की ओर लौट कर आते हैं, और फिर हमें संसार में श्रेष्ठ और शुभ इच्छाओं की पूर्णता अर्थात् अध्यात्मोन्नति, आत्मज्ञान और पराभक्ति की सिद्धि के

निमित्त आना पड़ता है। जब सर्वसिद्धि हो जाती हैं, तो फिर कौनसी वस्तु रहती है जो महात्माओं को मनुष्य लोक के साथ बाँध रखती है।

कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो संसार उन्हें दे सकता है। पृथिवी पर कोई ऐसा ज्ञान नहीं है, जो उनको प्राप्त न हो, कोई ऐसी शक्ति नहीं है, जो उनके वश में न हो, और जिसे वे वर्तते न हों, कोई ऐसी भुक्ति नहीं है, जो उनके जीवन-चरित्रों को अधिक शोभा दे सके। कोई ऐसा पदार्थ नहीं है, जिसकी लालच उन्हें संसार में फिर जन्म दे सके। परन्तु फिर भी वे जन्म लेते हैं, क्योंकि दैवी प्रेरणा जो अभ्यन्तर से होती है, न कि वाह्य से, उन्हें संसार में मनुष्य जाति के उद्धार के वास्ते भेजती है। यदि यह प्रेरणा न होती, तो वह संसार को सदैव के लिये त्याग देते। लोकोद्धार अभिप्राय से बारम्बार युगप्रति युग चोला धारण करके प्रगट होते हैं, और मनुष्य जाति को परम आनन्द और शान्ति के स्रोतस् तक पहुँचने का मार्ग दिखलाते हैं।

कुलकर्म समूह (COLLECTIVE KARMA)

प्राणियों के एकत्र होने और कुटम्ब, वर्ग, जाति और वंश बनाने से, कर्म-गति के निर्णय में एक और नई कठिनता पड़ जाती है। कर्मों के इस नये समूह ही के कारण देश तथा जाति में कई ऐसी बिपत्तियाँ (accidents) आती हैं जिनके द्वारा धर्म्मराज की

आज्ञानुसार कर्मों का लेखा चुकता है। यद्यपि मनुष्य पर कोई ऐसी आपत्ति नहीं आ सकती, जो उसके अपने प्रारब्ध कर्मों में न हों, फिर भी कई एक सञ्चित बुरे कर्मों को (जिनका भोग उस वर्त्तमान जन्म में साधारण रीति से प्राप्त न होता हो) भोग डालने का अवसर भौंचालादि देशीय तथा जातीय विपत्तियों के द्वारा दिया जाता है। कर्मों की इस असाधारण गति के विषय में प्रत्यक्ष निश्चय रूप से तो कुछ वर्णन नहीं किया जा सकता किन्तु अनुमान से ऐसा प्रतीत होता है कि जब तक मनुष्य की भावी में मृत्यु न हो, तब तक उसका अकस्मात् देह से वियोग नहीं हो सकता, चाहे कैसे ही घोर उत्पात में उसे क्यों न फेंक दिया जावे। महा अनर्थ रूपी काल ध्वंस के बीच में, जिससे उसके पड़ोसी उपरातली मरे चले जाते हैं, दैवयोग से उसकी रक्षा ही होती रहेगी, और वह सर्व संकटों में से कुशल के साथ ज्यों का त्यों निकल आवेगा। यदि उसे काल का ऋण देना है और यह देशीय अथवा जातीय कर्मों द्वारा किसी उत्पात के स्थान में खिचकर आ गया है तो अवश्य देह से उसका वियोग हो जावेगा। यद्यपि वर्त्तमान देह के लिङ्ग शरीर में तो ऐसी विपदा का भोग निर्माणित नहीं था। ऐसी दशा में उसकी रक्षा के निमित्त कोई बड़ा यत्न दैवयोग से न होगा। हाँ, मृत्यु के पश्चात् देवायतन (स्वर्ग) में उसकी विशेष रक्षा की जावेगी, ताकि अकाल मृत्यु से उसे अति संकट प्राप्त न हो। जातीय कर्मों द्वारा अवसर आने पर ऋण

उतारना ही पड़ता है, क्योंकि जाति के कर्मों में कुछ अंश उसके कर्मों का भी है।

इसी प्रकार प्राकृत नियम की परोक्ष गति के कारण उसे बहुत से लाभ भी हो सकते हैं। जैसे कि एक ऐसी जाति में जन्म लेने से होते हैं, जो अपने श्रेष्ठ कर्मों के फलों को भोग रही हो। इस प्रकार प्रकृति उससे अपना ऋण चुका लेती है। यह प्राप्ति उसे वर्त्तमान जीवन में कदापि न होती, यदि उसके अपने कर्मो का संबन्ध जातीय कर्मों के साथ न होता।

किसी विशेष जाति में मनुष्य का जन्म लेना उसकी अपनी उन्नति की न्यूनाधिकता से तथा विकास चक्र (evolution) के सामान्य नियमों से निर्णय होता है। विकास चक्र के नियमानुसार साधारण मनुष्य को शनैः शनैः उन्नति करते हुये एक भूगोल की सात जातियों में से ही गमन करना नहीं पड़ता, किन्तु उनकी उपजातियों में से भी भ्रमण करना पड़ता है। इस नियम के अनुसार कई ऐसे बन्धन उत्पन्न होते हैं, जिनके अनुकूल होकर प्रत्येक प्राणी के कर्मों को व्यवहार करना पड़ता है। जिस उपजाति में जो मनुष्य गमन कर रहा है उसी उपजाति की किसी शाखा में जन्म लेने से उस मनुष्य को अपने कर्मानुसार उन्नति करने के वास्ते योग्य सम्बन्ध मिल सकते हैं, अन्यथा नहीं। बहुत से मनुष्यों के गत जन्मों का क्रम दूर तक देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि बाजे मनुष्य तो नियत क्रम के साथ एक उपजाति से दूसरी उपजाति

में उन्नति करते चले जाते हैं, और कई जो नियम रहित हैं, एक ही उपजाति में बारंबार जन्म लेते हैं। उपजाति की किसी एक वा दूसरी शाखा में जन्म लेना मनुष्य के अपने भावों पर निर्भर है। जैसा उसका भाव होगा वैसा ही भाव वाली शाखा की ओर उसके कर्म उसे खींच कर ले जावेंगे। यही कारण है कि जैसा इतिहासों के पढ़ने से मालूम होता है कि प्रत्येक १५०० वर्ष के अनन्तर किसी जाति वा प्रजा में प्रभुताई और अधिकार विशेषता से प्रकट होते हैं। प्राचीन रोमन जाति (Romans) जो बड़े शूरवीर, तेजस्वी और पराक्रमी थे, अब इङ्गलैण्ड भूमि में जन्म ले कर अंग्रेज कहलाते हैं। इसी वास्ते इङ्गलैण्ड की प्रजा में शूरबीरता, तेज, पराक्रम और प्रदेश में जाकर विजय पाने और वहाँ वस्तियें बनाने का उत्साह अधिक मिलता है। उक्त लक्षणों के संस्कार गत जन्म में जिसके हृदय में दृढ़ हो चुके थे और जिसके पुनर्जन्म का समय अब आ गया है, उसे उसके कर्म इङ्गलिश जाति की ओर खींच कर ले जावेंगे। और वहाँ उसे जातीय दुःख, सुख, हानि, लाभ अपने अपने कर्मों के अनुसार भोगना पड़ेगा।

किसी विशेष कुटुम्ब के साथ सम्बन्ध का होना विशेष करके प्राणी की अपनी व्यक्ति पर निर्भर है। जो मनुष्य एक जन्म में गूढ़ स्नेह के तन्तु बुनते हैं, वे अगले जन्म में एक कुटुम्ब में आते हैं और संग रहते हैं। कभी कभी यह तन्तु कई

कई जन्मों तक दृढ़ाकार रहते हैं और इसी वास्ते दो मनुष्यों के भाग्य परस्पर संयुक्त होते हैं। कभी ऐसा भी होता है कि सांसारिक जीवन में मानसिक और अध्यात्मिक शक्तियों की उद्योगिता में भेद होने के कारण मनुष्यों के स्वर्गीय भोग का समय बराबर नहीं होता है और इस वास्ते कुटुम्बी जुदा जुदा हो जाते हैं; और सम्भव है कि फिर कई जन्मों तक उनका मिलाप न हो। सामान्य नियम तो यह है कि जीवन के अति उत्तम व्यवहार में दो मनुष्यों का जितना अधिक गूढ़ सम्बन्ध होगा, उतनी ही अधिक संभावना उनको एक कुटुम्ब में जन्म लेने की होगी। कुटुम्ब के एकत्रित कर्मों का भाव भी मनुष्य के निज कर्मों पर पड़ता है और इसी कारण कुटुम्ब के साथ कुछ दुःख सुख उसे ऐसा भी भोगना पड़ता है जो उसे अन्यथा भोगना न पड़ता। क्योंकि वह उसके प्रारब्ध में नहीं है। इससे विदित होता है कि मनुष्य को सञ्चित कर्मों का कुछ अंश बेअवसर (बेमौका) भी भोगना पड़ता है।

कर्म-समूह की गति का सविस्तार वर्णन न तो छोटी सी पुस्तक में समा ही सकता है, और न लेखक की सामर्थ्य में ही है। इस स्थान में जिज्ञासुओं को इस विषय पर बिखरे हुए इशारे ही दिये जा सकते हैं। सम्यक् ज्ञान के वास्ते एक एक गति वा दशा को सहस्रों वर्ष पर्यन्त पीछे तक खोज कर विचार करने की आवश्यकता होती है। ऐसे विषयों पर मानसिक कल्पनायें

करनी व्यर्थ होती हैं, शान्ति और धैर्य के साथ एक एक गति के लक्षणों को दूर तक दृष्टिगोचर करने से ही कुछ लाभ हो सकता है, मनोकल्पना से कुछ नहीं प्राप्त होता।

परन्तु कर्म-समूह की एक और गति है जिसका किञ्चित् मात्र वर्णन करना इस स्थान में आवश्यक प्रतीत होता है। उस गति के द्वारा मनुष्य के संकल्प तथा उसकी क्रियाओं, और वाह्य प्रकृति में परस्पर सम्बन्ध जाना जाता है। इस अस्पष्ट विषय पर योगिनी मेडेम बलेवेटस्की (Mme Blavatsky) यह लिखती हैं "फलातू" (Plato) के मतानुसार अरस्तु (Aristotle) वर्णन करता है कि भूत शब्द का अभिप्राय उन विदेही सत्ताओं से है, जो हमारी सृष्टि के चार बड़े विभागों की रक्षा और पालन करती हैं। इस प्रकार मूर्त्तिपूजक लोग ईसाइओं से अधिकतर तो महाभूतों और चतुर्दिशाओं की स्तुति और अर्चना नहीं करते हैं। उनकी स्तुति और अर्चना उन देवताओं के निमित्त होती हैं जो चार दिशाओं की रक्षा करते हैं और जिनको दिक्पाल कहते हैं। पादरी लोग दो प्रकार की विदेही सत्तायें मानते हैं, एक पिशाच रूप और दूसरी देवता रूप। केबालिस्ट और तत्त्ववेत्ता एक ही प्रकार की सत्तायें मानते हैं। इन्हें उन सत्ताओं में भेदभाव नहीं रहता है। केवल रोमन चर्च वालों का ही यह स्वभाव होता है कि जब किसी सत्ता को उनके दिये हुए नाम से भिन्न किसी अन्य नाम से पुकारा

जावे तो वे झट कह देते हैं कि यह सत्ता तो पिशाच रूप है। कभी यह नहीं सोचना चाहिये कि देवता तथा महाराजा ईश्वर की आज्ञानुसार वा उसके विपरीत मनुष्य को दण्ड अथवा फल दे सकते हैं; मनुष्य आप ही अपने को दण्ड देता है और आप ही फल देता है। जैसी करनी वैसी भरनी, उसके कर्म हरएक प्रकार की विपदायें और कष्ट उसकी ओर खींच लेते हैं और इसी प्रकार जाति के समूहित कर्म जातीय विपत्तियों को खींच लेते हैं। हम निदान वा कारण उत्पन्न करते हैं और इनसे देवलोक में सम्बन्धित शक्तियें जाग उठती हैं, जो अपने आकर्षक भाव के कारण बेवश होकर उन मनुष्यों की ओर खिंच कर जाती हैं और उन पर अपना प्रभाव डालती हैं कि जिन्होंने उनको जगाने वाले कारणों वा निदानों को उत्पन्न किया था, चाहे ऐसे मनुष्यों ने सचमुच कोई दुष्ट क्रिया की हो अथवा मन में ही उसका केवल दृढ़ विचार किया हो। क्योंकि आधुनिक पदार्थ विद्या के अनुसार भी संकल्प प्राकृतिक हैं। और जेवनस (Jevons) और बैबज (Babage) साहब अपनी पुस्तक "Principles of science" में लिखते हैं कि प्रकृति के प्रत्येक अणु में भूतकाल में हुई सब घटनाओं के संस्कार अंकित रहते हैं। दिन प्रतिदिन आधुनिक पदार्थ-विद्या शनैः शनैः उन सिद्धांतों को सिद्ध करती जाती हैं, जो प्राचीन गुप्त विद्या में थे।

संकल्प के प्राकृतिक होने से यह अभिप्राय नहीं है जैसा

"मौलहचट" (जरमन देश का प्रकृतिवादी मानता है) कि प्रकृति की गमनागमन गति ही से संकल्प होता है, ऐसा कदापि नहीं है। निःसंदेह कायक और मानसिक अवस्थायें एक दूसरे से भिन्न भिन्न होती हैं, किन्तु उससे इस बात में कुछ विरोध नहीं पड़ता कि संकल्प स्थूल मस्तिष्क में परिणाम करने के इतर गगनमंडल में ऐसे रूप भी बनाता है, जो दृष्टिगोचर होते हैं, यद्यपि साधारण नेत्रों को तो नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि जब मनुष्य विनाश कारक बहुत से दुष्ट संकल्प-रूप उत्पन्न कर देते हैं और यह एकत्र होकर गगनमंडल में अपने गण बना लेते हैं, तब उनकी शक्ति अधोमुखी होकर मेघ की तरह स्थूल मंडल में उतर सकती है, और उतरती है, और संग्राम, राज्य-परिवर्तन, सामाजिक कोलाहल, और अन्य नाना प्रकार की हलचल मचाकर अपने पैदा करने वाले मनुष्यों के समूह पर बिजली के समान पड़ती है और विकराल ध्वंस मचाती है। इस प्रकार मनुष्य जाति अपने भाग्य की रचने वाली आपही है, उसकी सृष्टि उसके अपने कर्मों से बनती है।

इसी नियम के अनुसार महापातक, महामारियाँ और देशीय विपदायें आया करती हैं। क्रोध के संकल्प-रूप प्राणों के घात में सहकारी होते हैं। इन रूपों के देवताओं को अपराधों से पुष्टि मिलती है।

एक अपराध से नाना प्रकार के परिणाम उपजते हैं। वध्य

हुए पुरुष के बांधवों और मित्रों को बाधक पुरुष से घृणा होती है, और उसके निमित्त उनके दिलों में हिंसात्मक विचार उठते हैं, हिंसक को बड़ा घोर कोप आता है और उसकी उन्मत्तता का वेग अनन्त होता है, जब बलात्कार उसको फाँसी देकर इस संसार में से निकाल दिया जाता है। इनसे नाना प्रकार के दुष्ट और अनिष्ट संकल्प-रूप उत्पन्न होकर दुष्ट संकल्पजात देवगणों की पुष्टि कर देते हैं। पापी पुरुषों के हृदयों में यह देव-गण गगनमंडल में से फिर नये अपराध की प्रेरणा करते हैं। इस प्रकार पापात्मक वेगों का चक्र बाँध जाता है। अपराधी क्रियाये देवगणों को बल प्रदान करती हैं, और देवगण उसके बदले में नये अपराधों का वेग पापी मनुष्यों के चित्त में डालते हैं। इस चक्र के कारण दुष्ट कर्मों का बड़ा भारी समूह बन जाता है। व्याधियें फैल जाती हैं और साथ ही साथ जो भय उनका लोगों में फैलता है, उससे बीमारी का बल कई गुना बढ़ जाता है। बहुत से आकर्षक क्षोभ (magnetic disturbance) स्थापन होकर वृद्धि को प्राप्त होते हैं, और उन मनुष्यों पर अपना भाव डालते हैं, जो क्षोभित स्थानों के अन्दर आ जाते हैं। नाना प्रकार से मनुष्यों के दुष्ट संकल्प संहार मचाते हैं, क्योंकि मनुष्य अपनी क्रियाशक्ति को सृष्टि की रचना में सहकारी होने के स्थान दुराचारों में लगाता रहता है।

समाप्ति

कर्मनीति और उसकी गति का संक्षिप्त वर्णन अब हम समाप्त करते हैं, जिसके ज्ञान से मनुष्य अपनी उन्नति कर सकता है और जिसको व्यवहार में लाने से मनुष्य बन्धनों से अपने आपको मुक्त कर सकता है, और अपनी जाति के मनुष्यों से पहले ही पूर्ण ज्ञान को प्राप्त होकर संसार चक्र के रक्षकों और सहायकों में से एक बन सकता है। इस नीति की सत्यता के दृढ़ और स्थिर निश्चय से मनुष्य के जीवन में अचल प्रसन्नता और पूर्ण निर्भयता आ जाती है। उसका पक्का विश्वास होता है कि उसको कोई ऐसी क्रिया स्पर्श नहीं कर सकती, जो उससे न उपजी हो। कोई हानि उसे प्राप्त नहीं हो सकती, जब तक वह स्वयं उसका भागी न हो। जो कुछ बीजा जाता है अवश्यमेव योग्य समय पर वह फल लाता है, और मनुष्य को उसे भोगना पड़ता है। इसी लिये अपने बीजे हुए कर्मों के दुःखदाई फलों को भोगते समय शोक करना व्यर्थ है। कर्म्म भोग तो अटल है, चाहे अब भोगो चाहे भविष्यत् में, इससे बच नहीं सकते, और जब कोई कर्म एक बार भोग लिया जाता है तो फिर कभी इससे दुःख नहीं होता। इस कारण दुःखदाई कर्मों के फल को बड़ी प्रसन्नता के साथ भोग कर उनकी समाप्ति की जाती है। ऋण सिर पर चढ़ा अच्छा नहीं होता है, जितना उतर जावे उतना ही सिर से बोझ हलका होता है। क्या ही

अच्छा होता यदि संसार इस बात को समझ जाता और इस नीति का आश्रय लेने से जो बल प्राप्त होता है उसे अनुभव करता। बड़ी दुर्भाग्यता की बात है कि पश्चिम देश के लोग तो इसे कल्पित ही समझते हैं। थ्योसोफिकेल सोसाइटी के सभासदों में भी इस सिद्धान्त की मानसिक स्वीकृति तो है परन्तु इस सिद्धान्त का उपयोग जीवन के व्यवहार में बहुत कम होता है। प्रोफेसर बैन साहब का कथन है कि किसी विश्वास का बल उस प्रभाव से नापा जाता है जो उससे मनुष्य के आचरण पर पड़ता है। कर्म-सिद्धान्त में विश्वास से जीवन शुद्ध, बली और आनन्दमय हो जाना चाहिये।

केवल हमारे कर्म ही हमको रोकते हैं और हमारी इच्छायें ही हमें बाँधती हैं। एक बार भी इस सत्य के अनुभव हो जाने से मुक्ति का द्वार सुलभ हो जाता है। प्रकृति उस मनुष्य को बन्धन में नहीं रख सकती जिसने ज्ञान द्वारा बल प्राप्त कर लिया है और जो इन दोनों (ज्ञान और बल) को ईश्वरार्पण कार्य्यों में लगाता है।

इति कर्म-व्यवस्था समाप्तः।

THERE IS NO RELIGION HIGHER THAN TRUTH.

THE IDEAL DUTIES.

1 A clean life.

2 An open mind.

3 A pure heart.

4 An eager intellect.

5 A brotherliness for all.

6 A readiness to give and receive advice and instruction.

7 An unveiled spiritual intuition.

8 A loyal sense of duty to the Teacher.

9 A courageous endurance of personal injustice.

10 A brave declaration of principles.

11 A valiant defence of those who are unjustly attacked.

12 A constant eye to the ideal of human progression and happiness which *Brahma-Vidya* depicts.

13 A willing obedience to the behests of TRUTH—*God*—once we have placed our confidence in, and believe that *Teacher* to be in possession of it.

14 These are the golden stairs up the steps of which the learner may climb to the temple of DIVINE WISDOM.

१ स्वर्णसोपान

२ स्वच्छ जीवन

३ निष्पक्ष भावना

४ निर्मल हृदय

५ उत्कट बुद्धि

६ सबके प्रति भ्रातृभाव

७ सलाह और उपदेश देने लेने में तत्परता

८ निरावरण अध्यात्मिक बोध

९ गुरुदेव के प्रति अनुरक्त कर्त्तव्य-शीलता

१० साहस के साथ आत्मगत अन्याय का सहन

११ बहादुरी के साथ सिद्धान्तों का निर्वाचन

१२ वीरता के साथ अन्याय पीड़ित जनों की रक्षा

१३ गुप्तविद्या निर्देशित मानवोन्नति और सुख के आदर्श का निरन्तर ध्यान

१४ एक बार जब हमने अपनी श्रद्धा गुरुदेव में रक्खी और यह विश्वास किया कि इनके पास सत्य है, तब सत्य के आदेश का हार्दिक पालन

१५ ये ही सुनहरी सीढ़ियाँ जिन पर चढ़कर जिज्ञासु यदि चाहें तो ब्रह्म-ज्ञान मन्दिर तक पहुँच सकते हैं।

ARYAN MORALS.

1 Know that there is a God.

2 Everything is created by Him

3 He is omnipresent, omniscient and omnipotent.

4 He protects us more kindly than our parents, and so He is the *Father* of all.

5 He gives us mind, body and our surroudings, only that we may be happy.

6 Believe in Him and worship Him.

7 Rise not after the sun.

8 Neither eat without hunger nor fast with it.

9 Keep order in your surroundings, and keep them as clean as you can.

10 Systematic perseverance in everything would surely ensure success.

11 Do not associate with known bad characters.

12 Do not harm any living being.

13 Respect your parents. superiors, teachers, the learned and the God.

14 Be graceful towards all.

15 Do not covet another's property.

16 Do not be vain.

17 Perform all your daily ceremonies.

18 Assist the poor and the needy.

19 Read your lessons well.

20 Be magnanimous, but not proud.

21 Always speak the *Truth*.

22 Bear ill-will towards none, if you cannot love all.

23 Love your fellows.

24 Do not cherish any evil thought.

25 Do not give yourself room for serious anger.

26 Look pure and be pure.

27 Lastly, follow *Him*, and He will lead you the way.

THEOSOPHICAL BOOKS IN

VERNACULAR.

Hindi.

		Rs.	As.	P.
१.	मनुष्य के कोष (Man's Bodies)	0	2	6
2.	मरण और मरण पश्चात् की स्थिति (Life after Death)	0	2	6
3.	कर्म्म व्यवस्था (Karma by Annie Besant) ...	0	8	0
4.	सार शब्द (Voice of the Silence)	0	4	0
5.	सनातन ज्ञान (Ancient Wisdom by Annie Besant)	1	8	0
6.	धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता (Necessity for Religious Education) ...	0	2	0
7.	लड़कियों को क्या पढ़ना चाहिये (Education of Indian Girls)	0	2	0
8.	पुनर्जन्म (Reincarnation)	0	8	0
9.	स्वर्गलोक (Devachanic plane)	0	8	0
10.	थियोसोफी (ब्रह्मज्ञान) की प्रथम पुस्तक	0	3	0
11.	दैवी सहायक (Invisible Helpers)	0	5	0
12.	मुमुक्ष का मार्ग (Path of Discipleship)	0	12	0
13.	थियोसोफी मार्गदर्शक (Guide to Theosophy) ...	0	3	0
14.	थियोसोफी याने ब्रह्मज्ञान (Theosophy-Pavri) ..	2	12	0
15.	मार्गप्रकाशिनी—भाषा टीका सहित (Light on the Path With notes)	0	10	0
16.	अन्तर जीवन (Inner Life vol, I condensed) ...	1	0	0
17.	ब्रह्मविद्या—रामजीवन सिंह, मुन्सिफ़	0	1	6
18.	धर्मज्योति—श्रीजगतनारायण, बी, एस सी, ...	1	4	0

19. परलोक जीवन 0 3 0
20. सत्संगति ,, ... 0 2 6
21. चरित्रगठन ,, ... 0 2 6
22. बड़ों के प्रति बच्चों का सन्देश ,, ... 0 1 0
23. रामायण का रहस्य—श्रीभानुञ्जय सहाय ... 0 2 6
24. दैनिक सदाचार (Theosophy in Everyday Life)
श्रीआनन्दविहारी पाण्डेय 2nd Edition ... 0 1 0
25. संकल्प शक्ति, उसका संयम और विकास
(Thought power, its control of culture) ... 0 10 0
26. जीवन मुक्त और मुक्तिमार्ग (Masters and path
summary) 0 6 0
27. थियोसोफी क्या है (What is Theosophy) ... 0 1 0
28. थियासोफिस्टों का विश्वास (What Theosophists
believe) ... 0 2 0
29. ब्रह्मविद्या का मूल ग्रन्थ 1 4 0
30. श्रीमती एनी बेसेन्ट 0 2 0
31. थियोसोफी 1 0 0
32. मनुष्य के सप्त तत्त्व (in Press) .. ..

Urdu

1. Education of Indian Girls 0 2 0
2. What Theosophy is 0 2 0
3. Sawal Jawab Sanatan Dharma 0 1 0
4. دنیا وعقبیٰ (Life and Life after Death) 0 2 0
5. اصول تھیوصوفی (Elements of Theosophy) 0 7 0
6. کیول رگیان پرکاش 1 0 0
7. مرشد کے قدموں کی برکت (At the Feet of the Master)
Without portrait 0 5 0

8.	قانون کرم (Law of Karma)	0	12	0
9.	هندومذهب کی تائید (In Defence of Hinduism) ..	0	4	0
10.	مفہوم و اسفادہ تکلیف (Meaning and Use of Pain) ..	0	2	0
11.	Sanatan Dharma Advanced Text Book ..	2	0	0
12.	چارج ن تهیوصوفی	0	2	0
13.	گلدستهٔ خیال	۰	۲	۰
14.	موت کے بعد کیا هوتا هے ۳ حصه فی	۰	۳	۰
15.	عبادت عارفین Theosophy in everyday Life ..	۰	۲	۰
16.	جواهرپے بہا مگوت گیتا Dr. A. Besant's Lectures ..	۰	۱۰	۰
17.	هندو دهرم کی ابتدائی درسی کتاب S. D. Elementary Text Book	۰	۱۲	۰
18.	علم فہم تهیوصوفی (لاله جواهرلال)	۳	۵	۰
19.	علاج ششی حصه اول دوم و سوم هے	۰	۵	۰
20.	معه زندگی Riddle of Life A. B.	۰	۲	۰
21.	منزل اسرار تهیوصوفی جلد اول Seven Principles of man (A. B.)	۰	۸	۰
22.	جلد دوم Reincarnation (A. B.)	۰	۸	۰
23.	انسان اور اسکے اجسام Man and his bodies	۰	۸	۰
24.	سیدهٔ عالم مکلوت Astral Plane	۰	۸	۰
25.	کرشن ایلالیاؤ نکے بہید Avataras A. B.	۰	۸	۰
26.	آئینه حقیقت Building of Kosmos A. B.	۰	۸	۰
27.	کلید تهیوصوفی Key to Theosophy A. P. B. ..	۰	۱۰	۰
28.	گلزار تهیوصوفی What is Theosophy (old)	۱	۰	۰
29.	سمرل بیبک	۰	۸	۰
30.	آتم بیبک	۰	۳	۰
31.	سدرسن حصه اول و دوم	۱	۸	۰

PROF. DR. B. L. ATREYA'S

WORKS ON THE YOGAVASISTHA

प्रो० आत्रेय की योगवासिष्ठ-सम्बन्धी पुस्तकें

		Rs. A. P.
1.	Yogavāsiṣṭha and Its Philosophy (Revised & Enlarged)	2—8—0
2.	Yogavasistha and Modern Thought ...	1—8—0
3.	The Philosophy of the Yogavāsiṣṭha ..	12—0—0
4.	An Epitome of the Philosophy of the Yogavāsiṣṭha	0—4—0
5.	Deification of Man ...	0—8—0
6.	वासिष्ठदर्शनम् (संस्कृत) ...	3—0—0
7.	वासिष्ठदर्शनसार (संस्कृत-हिन्दी) ...	0—4—0
8.	योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त (हिन्दी) ...	4—0—0
9.	वासिष्ठयोगः (संस्कृत) ...	0—4—0
10.	The Stories and teachings of the Yogavāsiṣṭha	0—8—0

Can be had of—

Dr. B. L. ATREYA,

Benares Hindu University.